जैन दर्शन एवं भक्ति

आचार्यरत्न श्री देशभषण जी महाराज

प्रत्येक मनुष्य अपना कुछ न कुछ लक्ष्य निश्चित करके अपने जीवन की धारा प्रवाहित करता है। व्यापारी अपने समय, ममझ और परिस्थिति के अनुकूल लक्ष्य बनाकर व्यापार प्रारम्भ करता है। उद्योगी पुरुष किसी उद्योग की नींव भी अपने सामने किसी लक्ष्य को रखकर डालता है। गर्भ-धारण तथा प्रसव की महती वेदना सहन करके भी जो पुत्र को जन्म देती है, वह भी अपना कोई लक्ष्य रखकर ही पुत्र का मुख देखते ही अपनी समस्त पीड़ा भूल जाती है, तदनन्तर उसका महान् यत्न और सावधानी से पालन-पोषण करती है। अपना शारीरिक बल क्षीण करके उसे अपनी छाती का दूध पिलाती है। उसके इस अनुपम त्याग का भी कुछ उद्देश्य होता है। उसकी भावना होता है कि मेरा पुत्र बड़ा होकर अपने कुल का उद्धार करे, परिवार को समृद्ध बनावे, मेरे लिये सुख-सामग्री जुटावे।

पिता स्वयं अनेक कष्टों को सहर्ष स्वीकार करके अपने पुत्र को शिक्षित बनाने में अपनी शक्ति जुटा देता है। उसका भी उद्देश्य होता है कि मेरा पुत्र अच्छा विद्वान् बनकर अपना तथा मेरा नाम प्रसिद्ध करे तथा जीवन की अन्तिम घड़ियों में मेरे असमर्थ शरीर को कुछ सहायता प्रदान करे।

एक विद्यार्थी पाठशाला में प्रविष्ट होकर अ आ इ ई पढ़ना प्रारम्भ करता है। अपना परम प्रिय खेल खेलना छोड़कर ६ घन्टे के बन्दीघर में अपने आपको सहर्ष डाल देता है। अपने अध्यापक की डांट-फटकार और थप्पड़-बेंत की मार को भी सहन करता है, अक्षर-ज्ञान में मन लगाता है। वह छोटा बच्चा भी अपने हृदय में अन्य विद्वानों के समान महान् विद्वान् बनने की उच्च भावना से ही विद्यार्थी-जीवन प्रारम्भ करता है।

एक किसान खेत को बड़े परिश्रम से जोतता है। अपने पास रक्खे हुए सबसे अच्छे अन्न को स्वयं न खाकर उसे मिट्टी के खेत में बिखेर देता है। फिर उस मिट्टी को गहरे कुएं से पानी निकाल-निकाल कर अनेक बार सींचता है। सर्दियों की ठण्डी रातों में खड़ा रहता है। वर्षा ऋतु में खुले मैदान में फावड़ा लेकर अपने खेत के अनेक चक्कर लगाता है। गर्मियों में दोपहर की धूप और भयानक लू की कुछ भी चिन्ता न करके उस खेत के काम में लगा रहता है। इतना महान् प्रयास करने का उसका उद्देश्य यही होता है कि अपने बोये हुए अन्न के एक-एक दाने के बदले में अन्न के हजारों दाने प्राप्त करूं, वर्ष भर तक अपने परिवार को भोजन खिलाऊं, अपने पशुओं को भूसा देता रहूं और अतिरिक्त अन्न तथा भूसे को बेचकर अपनी अन्य आवश्यकताओं को पूर्ण करता रहूं। इस तरह अपनी-अपनी समझ, शक्ति, परिस्थितियों के अनुसार अपना कोई न कोई लक्ष्य बनाकर ही प्रत्येक प्राणी कोई कार्य करता है।

इस प्रकार के सभी लक्ष्य सांसारिक दृष्टिकोण से होते हैं। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से आत्मशुद्धि का लक्ष्य इससे भिन्न श्रेणी का हुआ करता है। जो व्यक्ति अपनी आत्मा का उत्थान करना चाहते हैं वे अपना अन्तिम लक्ष्य संसार के आवागमन (जन्म-मरण) से छूटकर संसार से पूर्ण मुक्ति प्राप्त करने का रखते हैं। इस लक्ष्य को सिद्ध करने के लिये वे अपना आदर्श पंच परमेष्ठियों को रखते हैं।

परमेष्ठी—

आत्मशुद्धि द्वारा जो परम (सर्वोच्च) पद में स्थित हैं उन्हें परमेष्ठी कहते हैं। शासन-व्यवस्था की दृष्टि से जमींदार, जागीरदार, राजा, महाराजा, मंडलेश्वर, सम्राट्, चक्रवर्ती एक-दूसरे से महान् होते हैं। परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से चक्रवर्ती भी, देवों के स्वामी इन्द्र भी, परमेष्ठियों को पूज्य समझकर उनको नमस्कार करते हैं। अतः उनका परमेष्ठी नाम सार्थक है।

परमेष्ठी के ५ भेद हैं—(१) अर्हन्त, (२) सिद्ध, (३) आचार्य, (४) उपाध्याय, (५) साधु। इनमें अर्हन्त भगवान् जीवन्मुक्त परमात्मा हैं। सिद्ध भगवान् पूर्णमुक्त परमात्मा हैं। अर्हन्त, सिद्ध भगवान् के पदचिह्नों पर चलने वाले, संसार से विरक्त,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महाव्रतधारी आचार्य, उपाध्याय, साधु ये तीनों गुरु कहलाते हैं। पूज्यता की दृष्टि से सबसे नीचा पद साधु का माना गया है। साधु से अधिक पूज्य उपाध्याय होते हैं। उपाध्याय से भी उच्चपद आचार्य परमेष्ठी का होता है। आचार्य परमेष्ठी से अधिक पूज्यता सिद्ध परमेष्ठी में मानी गई है और सबसे अधिक पूज्यता अर्हन्त भगवान् में होती है। यद्यपि आत्मशुद्धि की दृष्टि से सिद्ध परमेष्ठी का पद सबसे उच्च है क्योंकि वे सर्वकर्मविनिर्मुक्त होते हैं, जबकि अर्हन्त भगवान् को चार अघातिकर्म नाश करने शेष रहते हैं, परन्तु संसार से पार करने का दिव्य उपदेश जनता को अर्हन्त भगवान् द्वारा ही मिला करता है, उनसे ही लोक-कल्याण हुआ करता है, अतः जगत् में अर्हन्त को सबसे अधिक पूज्य माना गया है।

इसी तरह गुरुओं में आत्मशुद्धि की दृष्टि से साधु उच्च होते हैं, परन्तु लोकमान्यता की दृष्टि से आचार्य को सबसे उच्च गुरु माना गया है। साधु आचार्य की आज्ञानुसार चलते हैं। आचार्य को अपना गुरु समझते हैं, उनसे प्रायश्चित्त, दीक्षा लेते हैं। उपाध्याय आचार्य के शासन में रहते हैं। अतः आचार्य से उनका पद कम होता है किन्तु अधिक ज्ञानवान होने से वे साधुओं से उच्च माने जाते हैं। आचार्य और उपाध्याय एक पदवी है। साधुओं के संघ में जो सबसे अधिक अनुभवी, विद्वान्, तपस्वी, प्रभावशाली होते हैं उनको या तो संघ द्वारा अथवा गुरु आचार्य द्वारा 'आचार्य' पद प्रदान किया जाता है, अधिक शास्त्रज्ञ विद्वान् साधु को उपाध्याय पद दिया जाता है। आचार्य और उपाध्याय जब अधिक आत्मशुद्धि करने के लिये संघ से अलग होकर तपस्या करने के लिये तत्पर होते हैं, अथवा समाधिमरण में आरूढ़ होते हैं तब सब संघ के समक्ष अपना उत्तराधिकार सुयोग्य साधु को प्रदान करके स्वयं उस कार्य-भार से निश्चिन्त हो जाते हैं। मुक्ति प्राप्त करने के लिये जिस उच्च साधना की आवश्यकता होती है, वह आचार्य व उपाध्याय पद पर रहते हुए प्राप्त नहीं होती। वह तो साधु पद से ही मिलती है।

मनुष्य को जब तक आत्मा का अनुभव नहीं होता तब तक वह अपने शरीर, पुत्र, स्त्री, भाई आदि परिवार तथा मित्र परिकर में एवं धन, मकान आदि पदार्थों को अपनाकर उनके मोह-ममता में फंसा रहता है। उसके हृदय में भी संसार होता है और उसके बाहर चारों ओर भी संसार होता है। इस कारण उसका जीवन परिवार के पालन-पोषण तथा सांसारिक विषय-वासनाओं में ही बीत जाता है। किन्तु जिस व्यक्ति को पूर्वभव के संस्कार से या किसी साधु-मुनि के उपदेश से अथवा भगवान् की प्रतिमा के दर्शन से अपनी आत्मा की अनुभूति (सम्यक् श्रद्धा) हो जाती है, उस समय उसकी रुचि आत्मा की ओर हो जाती है। वह फिर शरीर, परिवार, विषयभोगों से ऊपरी दिखावटी प्रेम बनाये रखता है जैसे धाय दूसरे बच्चे को पालते समय उस पर बाहरी प्रेम प्रगट करती है। बाहर से उसके चारों ओर संसार दिखाई देता है, क्योंकि वह कुटुम्ब या परिवार में रहता है, किन्तु उसके हृदय में संसार नहीं होता। उसकी प्रबल इच्छा यही बनी रहती है कि कौन-सी शुभ घड़ी आये जब कि मैं घर-गृहस्थी का भार अपने पुत्र, भ्राता आदि को सौंपकर घर से अलग हो जाऊं और संसार के कोलाहल से दूर वन, पर्वत आदि एकान्त स्थान में अपना सारा समय आत्म-साधना में व्यतीत करूं।

ऐसे विरक्त आत्म-अनुभवी पुरुष को जब घरबार को सम्हालने वाले समर्थ पुत्र आदि का अवसर मिल जाता है तब वह अपने पुत्र, स्त्री आदि को अपना घर-परिवार का भार सौंप कर घर से अलग हो जाता है। घर के साथ ही संसार के समस्त परिग्रह से अन्तरंग-बहिरंग सम्बन्ध त्याग कर किसी गुरु से जाकर साधु दीक्षा ग्रहण करता है। अपने शरीर के समस्त वस्त्र भी उतार आजन्म नग्न रहने की प्रतिज्ञा करके पांच महाव्रत आचरण करता है। शौच आदि के लिये जल रखने को लकड़ी या नारियल का एक कमंडलु, चींटी आदि जीव जन्तुओं को बैठने-सोने आदि के स्थान से दूर करने के लिये मोर के पंखों की बनी हुई एक पीछी तथा ज्ञानाभ्यास के लिये शास्त्र, ये तीन पदार्थ अपने पास रखता है। इनके सिवाय अन्य कोई भी पदार्थ उसके पास नहीं होता। सदा पैदल विहार करता है। सिर, दाढ़ी, मूँछों के बाल बड़े हो जाने पर दो, तीन या चार मास पीछे अपने हाथ से उनका लोंच कर डालता है। उसको जहां जिस गृहस्थ के घर शुद्ध भोजन विधि-अनुसार मिल जाता है वहां भोजन कर लेता है। शुद्ध भूमि पर ही सो जाता है। भोजन करने तथा सोने के सिवाय शेष सारा समय आत्मध्यान, स्वाध्याय, शास्त्र-चर्चा या उपदेश में लगाता है। इसके सिवाय और कोई कार्य नहीं करता। इस तरह वह अधिकतर आत्म-साधना करता है। इस कारण उसे साधु कहते हैं। 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' में साधु परमेष्ठी का स्वरूप यों लिखा है—

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी सः प्रशस्यते ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात्—जो इन्द्रियों की विषय-वासनाओं से अलिप्त हो, खेती, व्यापार , उद्योग तथा भोजनादि के आरम्भ-कार्यों से अलग रहता हो, किसी भी प्रकार का रंच मात्र भी परिग्रह जिसके पास न हो, जो ज्ञानाभ्यास करने में तथा आत्मध्यान में लगा रहता हो— ऐसा तपस्वी साधु प्रशंसनीय है।

५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रियविजय, ६ आवश्यक तथा नग्नता, भूमि-शयन, स्नान-त्याग आदि ७ यम—इस तरह २८ मूलगुण साधु परमेष्ठी के होते हैं।

इन्हीं २८ मूल गुणों के आचरण करने वाले साधुओं में जो सबसे अधिक विद्वान् होते हैं, तथा अन्य साधुओं को सिद्धान्त, न्याय, आचार, व्याकरण आदि विषयों का ज्ञानाभ्यास कराने की योग्यता रखते हैं, ऐसे विद्वान् साधु को उपाध्याय पद पर प्रतिष्ठित किया जाता है। २८ मूल गुणों का आचरण करते हुए मुनियों को पढ़ाना इनका विशेष कार्य होता है। अत: ११ अंग, १४ पूर्वका ज्ञान होना ये २५ गुण (२८ मूल गुणों के सिवाय और) बतलाये गये हैं।

कुलपति के समान जो मुनि-संघ में प्रधान होते हैं, जिनसे कि मुनि-दीक्षा ग्रहण की जाती है, जो संघ के साधुओं को किसी चरित्र-सम्बन्धी त्रुटि का प्रायश्चित्त देते हैं, समस्त साधु जिनकी आज्ञानुसार प्रवृत्ति करते हैं, वे आचार्य होते हैं। २८ मूल गुण पालन करते हुए १२ तप, १० धर्म, ५ आचार, ६ आवश्यक, ३ गुप्ति—इन ३६ गुणों का और भी विशेष आचरण आचार्य किया करते हैं।

महाव्रती मुनि जिस समय आत्मध्यान में तन्मय होकर सातवें गुणस्थान में पहुंच जाते हैं, उस समय जिस मुनि के परिणाम और अधिक विशुद्ध होते हैं उस मुनि के **शुक्लध्यान प्रारम्भ** होते ही आठवां गुणस्थान प्रारम्भ हो जाता है। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ तथा मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति--इन ७ प्रकृतियों के सिवाय शेष चारित्र-मोहनीय की २१ प्रकृतियों को क्षय करने के लिये जो मुनि क्षपक श्रेणी को प्रारम्भ करता है, वह उन प्रकृतियों का क्षय करता हुआ नवें गुणस्थान में स्थूल संज्वलन लोभ के सिवाय शेष सब प्रकृतियों का क्षय करता है। दसवें गुणस्थान में उस लोभांश को और भी सूक्ष्म करके, १२वें गुणस्थान में उसका समूल नाश कर देता है। इस गुणस्थान के अन्त में ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय कर्म का नाश करके १३वें गुणस्थान में पहुंच जाता है। इतना बड़ा भारी कार्य केवल पहले दो शुक्ल ध्यानों के द्वारा अन्तर्मुहूर्त में हो जाता है।

१३वें गुणस्थान में पहुंचने पर अर्हन्त परमात्मा का पद प्राप्त हो जाता है। ज्ञानावरण व दर्शनावरण कर्म नष्ट हो जाने से वे पूर्ण त्रिकाल त्रिलोक के ज्ञाता, पूर्णज्ञाता-द्रष्टा, मोहनीय कर्म न रहने से पूर्ण सुखी और अन्तराय कर्म का क्षय हो जाने से उन्हें अनन्त बल प्राप्त हो जाता है। इस तरह अनन्तचतुष्टय के धारक अर्हन्त भगवान् वचन-योग के कारण निरीह भाव से धर्म उपदेश देकर धर्म प्रचार करते हैं। तीर्थंकरों के उपदेश के लिये समवशरण नामक विशाल तथा सुन्दर सभा-मण्डप देवों द्वारा बनाया जाता है।

अर्हन्त परमात्मा जब योग-निरोध करके १४वें गुणस्थान में पहुंचते हैं तब अ इ उ ऋ लृ—इन लघु अक्षरों के उच्चारण योग्य थोड़े से समय में शेष वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र इन चार अघाति कर्मों का नाश करके द्रव्यकर्म, भावकर्म से रहित होकर अशरीर, निष्कलंक, शुद्ध आत्मारूप होकर, अन्तिम शरीर आकार से कुछ कम मनुष्याकार में स्थित होकर, स्वयं लोक के सर्वोच्च स्थान में जाकर ठहर जाते हैं। वे सिद्ध परमेष्ठी हैं।

इस संसार में आध्यात्मिक गुणों के विकास के कारण ये ५ परमेष्ठी ही समस्त जगत्वर्ती जीवों में श्रेष्ठ होते हैं, इसी कारण इनका नाम परमेष्ठी है। णमोकार मन्त्र में किसी व्यक्ति-विशेष को नमस्कार न करके इन्हीं पांच परमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है। प्रत्येक आत्मशुद्धि-इच्छुक स्त्री-पुरुष को अपने सामने इन्हीं पांच परमेष्ठियों की आदर्श रखकर धर्म-आराधना में तत्पर रहना चाहिये।

जगत् में चार मंगल

यह तो ठीक है कि संसारी जीवों की अमूल्य, अटूट, अक्षय और असीम आत्मनिधि कर्म के आवरण में छिपी हुई है, किन्तु है तो उसके अपने घर में ही, कहीं बाहर तो नहीं है। उसे स्वयं अपने उस अटूट भण्डार का पता न हो तो न सही, किन्तु वह भण्डार है तो उसी के पास। उसके सिवाय कोई अन्य व्यक्ति तो उसको न ले सकेगा। कस्तूरी-हिरण अपनी ही नाभि की कस्तूरी की सुगन्धि से मस्त हो जाता है किन्तु उस अभागे को इस बात का रहस्य ज्ञात नहीं होता। इसी कारण उस सुगन्धि को वह अन्य वृक्षों, झाड़ियों, घास, पौधों में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूंघता फिरता है और भटकते-भटकते खेदखिन्न हो जाता है। परिणाम यह होता है कि वह शिकारी के हाथ में पड़ जाता है और उस कस्तूरी का उपभोग उस हिरण के बजाय वह शिकारी उसके पेट को चीर कर, कस्तूरी निकाल कर करता है।

एक तेल बेचने वाले तेली को कहीं से एक सेर भर पारस पत्थर मिल गया। तेली का सौभाग्य था जो ऐसी मूल्यवान् निधि उसके हाथ आ गई। वह यदि चाहता तो मनों लोहे को उस पारस पत्थर से छुआ-छुआ कर सोना बना लेता किन्तु उस अभागे के भाग्य में यह बात थी ही नहीं। उसे पता ही न था कि 'मेरे पास ऐसा अमूल्य पत्थर है, मुझे अब घर-घर फिर कर यों तेल बेचने की क्या आवश्यकता है। मैं तो घर में बैठ कर ही जरा से परिश्रम से अपने घर सोने का ढेर लगा सकता हूं।' उस अभागे तेली ने उस अमूल्य पारस पत्थर को केवल पत्थर ही समझा और इसी कारण उस पारस को अपना तेल तोलने के लिये एक सेर का बाट ही बना लिया।

ठीक ऐसी ही दशा संसारी जीव की है। वह सुखदायक पदार्थ की खोज में इधर-उधर भटकता-फिरता है। लोकाकाश का कोई भी प्रदेश इससे अछूता नहीं रहा, कहीं यह नारक बनकर पहुँचा, तो कहीं पर देव बनकर, कहीं मनुष्य के रूप में पहुँचा तो कहीं पशु-पर्याय के रूप में। मुक्त जीवों का सिद्ध क्षेत्र भी निगोदी जीव के रूप में इसने जाकर छू लिया। वहाँ पर बहुत समय तक रहा भी।

सभी ग्राह्य पुद्गल वर्गणाओं के कारण यह एक वार नहीं, किन्तु अनेक बार अनन्त रूप ग्रहण कर चुका है। कोई भी परमाणु इससे अछूता न रहा, परन्तु उस अनन्त अतीत काल में इसकी सुख की प्यास कण-मात्र भी एक क्षण के लिये भी न बुझी, यह तो अब तक सुख का भूखा ही रहा तथा भविष्य में भी यह जब तक अपने रहस्यमय भण्डार से अपरिचित बना रहेगा तब तक इसकी यह भूख मिटेगी भी नहीं।

अपनी सुख की इच्छा तृप्त करने के लिये मनुष्य विविध विचित्र मान्यताओं को अपने ही लिए सिद्धान्त बना लिया करते हैं। कभी किसी मनुष्य ने किसी कार्य के लिये जाते हुए दही से भरा हुआ पात्र देख लिया और सौभाग्य से उसको अपने कार्य में सफलता मिल गई तो वह समझ लेता है कि दही का दर्शन मंगलमय है, दही को खाकर या देखकर किसी कार्य-सिद्धि के लिये जाना चाहिये। किसी व्यक्ति को प्रातः सबसे प्रथम गाय दीख गई और उसका वह दिन सुख-शान्ति-समृद्धि से व्यतीत हुआ तो उसने तथा जनता ने सिद्धान्त बना लिया कि प्रातः गाय का दर्शन मंगलरूप है।

इसी प्रकार विभिन्न लोगों ने जल-पूरित कलश को मंगल-कुम्भ तथा पीली सरसों, हल्दी, दूर्वा, कुमारी कन्या आदि का प्रथम दर्शन आदि मंगलरूप मान लिया है। कामी पुरुषों ने व्यभिचार-परायण वेश्या को मंगलामुखी मान लिया है, किन्तु ये सब सांसारिक मान्यतायें गलत हैं। सांसारिक सुख की प्राप्ति उक्त पदार्थों को प्रातः सब से पहले देख लेने मात्र से हो जाती तो प्रत्येक व्यक्ति दही, हल्दी, पीली सरसों, जल से भरा हुआ कलश आदि पदार्थ अपने-अपने घर पर रख कर प्रतिदिन मंगलमय दिवस बना लेते, तब किसी को किसी दिन कोई दुःख होता ही नहीं।

सातावेदनीय कर्म के उदय से संसारी जीवों को सुख मिलता है और असातावेदनीय कर्म के उदय से दुःख मिलता है। साता-वेदनीय का संचय शुभ कार्य करने से होता है। अतः भ्रान्त भावना त्याग करके दुःख के कारणभूत कर्मों को दूर करने के लिये तथा शुभ कर्मों के उपार्जन करने के लिये मंगलकारी पदार्थों तथा कार्यों का आश्रय लेना चाहिये।

तदनुसार जगत् में मंगल (सुख-शांतिदायक) पदार्थ चार हैं—

अरहंत मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं।

अर्थात्—जगत् में अर्हन्तदेव, सिद्धभगवान्, साधु तथा सर्वज्ञ-प्रतिपादित धर्म—ये चार पदार्थ मंगलरूप हैं, स्वयं मंगलरूप हैं तथा अपने आराधक उपासक का मंगल करने वाले हैं।

अर्हन्त मंगल

आत्मध्यान-निमग्न योगी जब शुद्धोपयोग शुक्ल ध्यान द्वारा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय—इन चार घाति कर्मों का समूल क्षय करके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तबल प्राप्त कर लेते हैं, तब वे पूर्ण वीतराग, सर्वद्रष्टा, अर्हन्त परमात्मा हो जाते हैं, शरीर में रहते हुए भी जीवन्मुक्त होते हैं। अजर, अमर, निरंजन, निर्विकार हो जाते हैं। उनकी समस्त इच्छायें समूल विलीन हो जाती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि वचन-योग से उनकी दिव्यध्वनि होती है तो उसके द्वारा प्रत्येक जीव को कल्याणकारी, सुपथ-प्रदर्शक, तत्त्व, पदार्थ, नय, कर्मबन्धन, कर्ममोचन, व्यवस्था, संसार-भ्रमण, संसार-मुक्ति आदि सिद्धान्तों का विवेचन जनता को सुनने के लिये मिलता है। उसको सुनकर असंख्य प्राणी सन्मार्ग पर चलते हुए आत्म-कल्याण करते हैं। बहुत-से मनुष्य उन के पद-चिह्नों पर चलकर उन अर्हन्त भगवान् के समान ही घाति कर्म का क्षय करके अर्हन्त बन जाते हैं। बहुत-से व्यक्ति उनका दर्शन करके अपने आत्मा की अनुभूति करने लगते हैं। उनके समीपवर्ती विकराल हिंसक जीव सिंह, बाघ, भेड़िया, सर्प, बिल्ली आदि जानवर अर्हन्त भगवान् के प्रभाव से अपनी हिंसक भावना छोड़ कर गाय, हिरण, खरगोश, चूहे, कबूतर आदि जीव जन्तुओं के साथ प्रेम से खेलते हैं।

उन अर्हन्त भगवान् का दर्शन करते ही मनुष्य के हृदय में शान्ति का स्रोत बहने लगता है। उनका पुनीत नाम लेने से ही रसना (जीभ) पवित्र हो जाती है। अतः सबसे प्रधान मंगलरूप भगवान् अर्हन्त परमात्मा हैं। प्रातः सब से प्रथम अर्हन्त भगवान् की मूर्ति का दर्शन करना मंगलमय है।

अर्हन्त भगवान् का दर्शन, स्तवन, चिन्तवन करने से शुद्ध आत्मा का स्मरण होता है। राग-द्वेष, क्रोध, भय, शोक आदि त्याग कर, क्षमा-शान्ति-समता आदि गुणों की ओर चित्त आकर्षित होता है। आत्मा का अनुभव करने की ओर प्रवृत्ति बढ़ती है। अतः शुभ कर्म का आस्रव होता है, अशुभ कर्मों की निर्जरा तथा संवर होता है,[1] जिससे कि आत्मा को सुख प्राप्त होता है। चित्त शान्त, सन्तुष्ट व निराकुल होता है।

सिद्ध मंगल

अर्हन्त भगवान् जब शेष वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र--इन चार अघाती कर्मों का क्षय करके पूर्ण मुक्त हो जाते हैं, उस समय पूर्ण आत्मसिद्धि पा लेने के कारण **सिद्ध परमात्मा** कहलाते हैं। द्रव्य कर्म, भावकर्म, तथा नोकर्म (शरीर) से मुक्ति पा लेने के कारण उनकी आत्मा परम विशुद्ध अपने स्वाभाविक अमूर्तिक अंतिम मनुष्याकार में स्थिर हो जाती है—अनन्त समय तक उसी आकार में रह जाती है। कर्मबन्धन से मुक्त हो जाने के कारण तदनन्तर वे स्वयं मनुष्य लोक से गमन करके लोकाकाश के सब से उच्चभाग तनुवात वलय में विराजमान हो जाते हैं। उससे ऊपर अलोकाकाश है, वहां पर धर्मास्तिकाय न होने से नहीं जाते।

अष्ट कर्म नष्ट होने से उनमें कर्मों के अभावरूप अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सुख, अनन्तवीर्य, अव्याबाध, अवगाहन, सूक्ष्मत्व और अगुरुलघु—ये आठ गुण प्रगट होते हैं। इनके साथ ही और भी अनन्तगुण पूर्ण विकसित हो जाते हैं। ऐसे परम शुद्ध सिद्ध परमात्मा का साक्षात् दर्शन तो किसी को होता नहीं, अतः उनका ध्यान, स्मरण, चिन्तन तथा स्तवन ही किया जाता है। साक्षात् दर्शन न होने के कारण तथा उनसे उपदेश आदि न मिलने के कारण ही उनका नाम अर्हन्त के पीछे लिया जाता है।

तीर्थंकर संसार में किसी को नमस्कार नहीं करते, केवल सिद्ध परमेष्ठी को ही नमस्कार करते हैं। कार्य प्रारम्भ करने से पहले जनसाधारण भी 'नमः सिद्धेभ्यः' कहकर सिद्ध परमात्मा का स्मरण करते हैं। ऐसे परम पुनीत सिद्ध भगवान् भी उत्तम मंगल रूप हैं। उनका मन में स्मरण करते ही चित्त पवित्रता की ओर आकर्षित होता है। उनके गुण-गायन करने से मुख पवित्र हो जाता है, हृदय में शुद्ध आत्मा की लहर लहराने लगती है जिससे अशुभ कर्म क्षय होकर शुभ कर्म का आस्रव होता है। विघ्न-बाधायें नष्ट हो जाती हैं। प्रारब्ध कार्य में सफलता मिलती है। अतः प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में "ॐ नमः सिद्धेभ्यः" उच्चारण किया करो। शय्या से उठते ही सिद्धों का स्मरण करो तथा विविध स्तोत्रों का पाठ करो। यथा—

विराग सनातन शान्त निरंश, निरामय निर्भय निर्मल हंस।
सुदाम विबोध निधान विमोह, प्रसीद विशुद्ध सुसिद्ध समूह॥

---

१. (क) "पूर्वबद्ध कर्मों के झड़ने का नाम निर्जरा है। वह दो प्रकार की है—सविपाक व अविपाक। अपने समय स्वयं कर्मों का उदय में आ आकर झड़ते रहना सविपाक, तथा तप द्वारा समय से पहले ही उनका झड़ना अविपाक निर्जरा है। सविपाक सभी जीवों को सदा निरन्तर होती रहती है, पर अविपाक निर्जरा केवल तपस्वियों को ही होती है।"

—जैनेन्द्र सिद्धांत कोश, भाग २—क्षु० जिनेन्द्र वर्णी, पृ० ६२०

(ख) आस्रव-निरोधः संवरः—आस्रव का निरोध संवर है।

—तत्त्वार्थसूत्र, ९/१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साहू मंगल

अर्हन्त भगवान् के मुक्त हो जाने पर उनके पद-चिह्नों पर चल कर स्व-पर कल्याण करने वाले साधु परमेष्ठी होते हैं। कुटुम्ब-परिवार, धन-सम्पत्ति, मित्र-परिकर तथा सांसारिक विषय-वासनाओं, भोग्य-उपभोग्य पदार्थों से ममता व मोह का त्याग कर, शरीर से भी ममत्व दूर करके, तत्काल उत्पन्न (यथाजात) बच्चे का सा निर्विकार नग्न रूप धारण करके, समस्त आरम्भ-कर्मों का त्याग कर जो ५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रिय-दमन, ६ आवश्यक तथा अचेल, अस्नान, भूमिशयन आदि २८ मूलगुणों तथा उत्तर गुणों का आचरण करते हैं, आत्मध्यान, स्वाध्याय आदि तपस्या से निरन्तर आत्म-शुद्धि करते हैं, वे **साधु परमेष्ठी** हैं। संसार में न कोई उनका **मित्र** होता है, न कोई शत्रु। संसार के किसी पदार्थ की इच्छा उनको नहीं होती।

ऐसी पुनीत चर्या वाले साधु परमेष्ठी भी जगत् में मंगलरूप हैं क्योंकि वे आत्मशुद्धि में लगे हुए हैं। किसी के अहित का न कोई कार्य करते हैं, न वचन से कोई किसी को हानिकारक, कड़वा तथा असत्य वचन कहते हैं और न उनके मन में किसी के लिये दुर्भावना उत्पन्न होती है। ऐसे पवित्र आत्मा का दर्शन करते ही मन के दुर्विचार दूर हो जाते हैं। उनका उपदेश सुनने से सन्मार्ग पर चलने की भावना जाग्रत होती है। अतः मंगलाचार के लिये '**णमो लोए सव्वसाहूणं**' मुख से उच्चारण करो।

बन्दों दिगम्बर गुरुचरण, जगतरण तारण जान।
जो भरम भारी रोग को हैं, राजवैद्य महान॥

—इत्यादि स्तुति पढ़ कर मुख तथा मन पवित्र करना चाहिये।

केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं

केवलज्ञानी अर्हन्त भगवान् का बतलाया हुआ धर्म तो आत्मा को शुद्ध करके परमात्मा बना देता है। उससे बढ़ कर संसार में और मंगल क्या हो सकता है। आत्मा का जो निर्मल स्वभाव है, वही आत्मा का धर्म है। उसी आत्म-धर्म को कठोर तपस्या द्वारा केवली भगवान् प्राप्त करते हैं। अतः उनका बताया हुआ, अनुभूत धर्म ही आत्मा का कल्याण कर सकता है।

वह धर्म-वार्त्ता जिन ग्रन्थों में अंकित है उन धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन करने से आत्मज्ञान, परपदार्थ-ज्ञान, कर्मबन्ध, मोक्ष, संवर, निर्जरा आदि उपयोगी तत्त्वों का परिज्ञान होता है। प्रत्येक जीव के साथ दयालुता का व्यवहार करो क्योंकि वे भी तुम्हारे समान ही जीव हैं। ऐसा प्राणीमात्र का हितकारी उपदेश उन शास्त्रों से ही मिलता है। मोह और अज्ञान के अन्धकार को दूर करने के लिये वे धर्मग्रन्थ प्रकाश देने वाले दीपक जैसे हैं। अतः जगत् में धर्म, धर्मग्रन्थ भी मंगलरूप हैं।

केवलिकन्ये वाङ्मय-गंगे, जगदम्बे अघ नाश हमारे।
सत्यस्वरूपे मंगलरूपे, मन मंदिर में तिष्ठो हमारे॥

अर्हन्त-भक्ति

चार घाति कर्म-रहित, अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त बल संयुक्त जीवन्मुक्त अर्हन्त परमेष्ठी होते हैं। उन अर्हन्त परमेष्ठी की भक्ति करना **अर्हन्तभक्ति** भावना है।

यदि सूर्य न हो तो संसार में अन्धकार बना रहे, प्रकाश न हो। इसी तरह यदि अर्हन्त भगवान् न हों तो संसार में ज्ञान का प्रकाश न हो, और अज्ञान-अन्धकार, मोह-अन्धकार संसारी जीवों के आत्मा से दूर न हो सके। अर्हन्त भगवान् ने अपने तपोबल से आत्मा के सबसे अधिक अहित करने वाले घातिया कर्मों को क्षय किया, तभी वे पूर्णज्ञानी, पूर्णसुखी, अनन्त शक्तिशाली और पूर्ण वीतराग बन गये। उस समय उन्होंने समस्त तत्त्वज्ञान, आत्मा को संसार-जाल से छूटने का उपाय प्रतिपादन किया। सिद्ध भगवान् आत्मशुद्धि में अधिक हैं किन्तु लोक-कल्याण में उनसे अधिक अर्हन्त हैं, अतः वे पहले परमेष्ठी हैं।

वे पूर्ण ज्ञानी थे, इसलिये उनके जानने में कुछ ग़लती नहीं थी और उनको रंचमात्र भी किसी के साथ न राग था, न द्वेष था। इस कारण निःस्पृह भाव से दिये गये उनके उपदेश में कुछ विकार न था।

वीतराग सर्वज्ञ और हितोपदेशी होने के कारण वे समस्त संसार के पूज्य देव बन गये। ये तीनों विशेषताएं संसार के किसी अन्य देव में नहीं पाई जातीं। इसी कारण कोई स्त्री-प्रेमवश अपने साथ स्त्री रखता है और कोई अपने शत्रु को मारने के लिए अपने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साथ तलवार, भाला, गदा, धनुष आदि हथियार लिये हुए हैं। ऐसे देवों की आराधना से आत्मा में राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, भय आदि की शिक्षा आराधक को मिल सकती है। राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि भाव संसारचक्र में ही डाले रखते हैं। अतः संसार से छूटकर अजर-अमर बनने के लिये तो वैसा ही देव उपयोगी हो सकता है जो राग, द्वेष, क्रोध आदि से मुक्त हो। ऐसे देव तो अर्हन्त ही हैं। अतः जो संसार-जाल से छूटकर अजर-अमर बनना चाहता है वह अर्हन्त भगवान् की आराधना करे।

श्री रामचन्द्र जी ने संसार से विरक्त होकर 'जिनेन्द्र' (अर्हन्त) की तरह अपनी आत्मा में शान्ति पाने की इच्छा प्रगट की। यह बात योगवाशिष्ठ (१५/८) के निम्नलिखित श्लोक से प्रगट होती है :

नाहं रामो न मे वांछा, भावेषु च न मे मनः।
शान्तिमास्थातुमिच्छामि स्वात्मन्येव 'जिनो' यथा ॥

इसके सिवाय संसार के जितने भी अन्य देव हैं वे अपने भक्त (सेवक) को सदा सेवक ही बनाये रखते हैं। कभी अपने समान नहीं बनाते। परन्तु अर्हन्त भगवान् की जो व्यक्ति सेवा-भक्ति करता है वह कुछ समय बाद खुद अर्हन्त परमात्मा बन जाता है। यानी—अर्हन्त देव अपने भक्त को अपने-जैसा भगवान् बना देते हैं।

इसमें भी विशेषता यह है कि अर्हन्त देव स्वयं ऐसा नहीं करते। यदि कोई मनुष्य अर्हन्त भगवान् की निन्दा करे तो उससे अप्रसन्न होकर उस निन्दक का कुछ अहित नहीं करते और न अपनी भक्ति-पूजा-स्तुति करने वाले पर प्रसन्न होकर उसको कुछ पारितोषिक देते हैं क्योंकि वे तो पूर्ण वीतराग हैं। ऐसा होते हुए भी अर्हन्त भगवान् की निन्दा करने वाला व्यक्ति अपने बुरे परिणामों से अशुभ कर्म बांध लेता है, जिससे उसको महान् संकट व दुःख प्राप्त होता है और भक्ति करने वाला शुभ कर्म का उपार्जन करता है। इस कारण उसको सब तरह की सुख-सामग्री स्वयमेव मिल जाती है। ऐसा अपूर्व महत्त्व संसार में और किसी देव में नहीं मिलता।

इस कारण सुख प्राप्त करने के लिये अर्हन्त भगवान् की भक्ति अवश्य करनी चाहिये, क्योंकि जो जैसा बनना चाहता है वह वैसे ही व्यक्ति की सेवा-भक्ति करता है और भक्ति करते-करते वैसा ही बन जाता है। विद्या लेने के लिये विद्यागुरु की भक्ति की जाती है और जौहरी बनने के लिये जौहरी की सेवा की जाती है। तदनुसार अनन्त सुखी, अनन्त ज्ञानी बनने के लिये अर्हन्त भगवान् की भक्ति आवश्यक है।

जैसे सिंह का ज्ञान कराने के लिये सिंह की मूर्ति से काम लिया जाता है। उसकी मूर्ति से बच्चों को सिंह की सारी बातें बतला दी जाती हैं, इसी तरह अर्हन्त भगवान् के पूर्णमुक्त (सिद्ध) हो जाने पर अर्हन्त भगवान् का बोध उनकी प्रतिमा से होता है। अर्हन्त भगवान् जिस तरह पूर्ण शान्त वीतराग थे, ठीक वही बात उनकी प्रतिमा से प्रगट होती है। अर्हन्त प्रतिमा के मुख और नेत्रों से यह बात प्रगट होती है कि न इनको किसी पर क्रोध है, न अभिमान। अर्हन्त जिस तरह निर्भय, निर्विकार, वीतराग थे, वही मूक शिक्षा अर्हन्त भगवान् की मूर्ति से प्राप्त होती है। धीरता, गम्भीरता का प्रभाव भी अर्हन्त की मूर्ति के दर्शन से आत्मा पर पड़ता है।

सारांश यह है कि अर्हन्त भगवान् की मूर्ति पर न कुछ भूषण हैं, न वस्त्र हैं, न कोई शस्त्र। स्वात्मलीनता तथा संसार से विरक्ति उस मूर्ति से झलकती है। दर्शन करते ही आत्मा में शान्ति की छाया पड़ती है। अतः निरञ्जन, निर्विकार, निर्भय बनने के लिये अर्हन्त परमात्मा का दर्शन करना चाहिये।

जिस तरह किसी वेश्या का चित्र देखते ही आत्मा में कामवासना जाग उठती है और किसी वीर पहलवान शूर योद्धा की मूर्ति देखते ही वीरता के भाव जाग्रत हो उठते हैं; देशभक्त धर्मात्मा का चित्र देखने पर मन में देशभक्ति और धर्म-आचरण की लहर लहराने लगती है; इसी तरह अर्हन्त भगवान् की मूर्ति का दर्शन करने से वीतराग, शान्त भावना जाग्रत हो उठती है। संसार की मोहमाया से विराग भाव पैदा होने लगता है।

सिनेमा में स्त्री पुरुषों के नाटक के चित्र होते हैं। इस तरह फिल्म जड़ अचेतन वस्तु है किन्तु उसको देखने से दर्शकों के हृदय पर उस अजीब जड़ चित्र का कैसा गहरा असर पड़ता है। देखने वालों का चित्त कभी करुणाजनक नजारा देखकर करुणा से भर जाता है, कभी सिनेमा देखने वाले स्त्री-पुरुष उन जड़ चित्रों को देखकर रोने लगते हैं, तो कभी हास्यजनक दृश्य से हँसने लगते हैं। सिनेमा देखकर ही लड़ना, भिड़ना, चोरी करना आदि भी सीख लेते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी तरह अर्हन्त भगवान् की प्रतिमा वास्तव में अजीव जड़ पदार्थ होते हुए भी अपने दर्शक के हृदय पर अपनी शान्ति व वीतरागता की छाप लगा ही देती है।

अर्हन्त भगवान् के दर्शन, पूजा, भक्ति से शान्ति व वैराग्य प्राप्त होता है। आत्मा को आनन्द और तृप्ति इसी से मिला करती है। इसके साथ अतिशय पुण्य कर्म का समागम भी होता है जिससे कि स्वर्ग राज्य आदि सांसारिक विभूति स्वयं मिल जाती है। इस कारण अर्हन्त भगवान् की भक्ति करके किसी सांसारिक वस्तु की इच्छा नहीं करनी चाहिये।

अर्हन्त भगवान् की भक्ति से तो अनन्त अविनाशी मुक्ति पाने का उद्देश्य रखना चाहिये। संसार-सुख तो अपने आप मिल ही जाता है। इस तरह अर्हन्त की प्रतिमा को साक्षात् अर्हन्त भगवान् मान कर बड़े उत्साह के साथ सदा दर्शन, पूजन, भक्ति करनी चाहिये तथा उनका ध्यान करना चाहिये। यह अर्हन्त-भक्ति है।

श्री ऋषभनाथ भगवान् सबसे पहले अर्हन्त भगवान् हुए हैं। उन्होंने ही कैवल्य प्राप्त करके अर्हन्त अवस्था में सबसे प्रथम संसार के प्राणियों को मुक्ति-मार्ग का उपदेश दिया था।

वैष्णव सम्प्रदाय में ईश्वर के २४ अवतार माने गये हैं। उनमें से भगवान् ऋषभनाथ को छठे अवतार के रूप में माना गया है। भागवत पुराण में भगवान् ऋषभनाथ का वृत्तान्त जैन ग्रन्थों से मिलता-जुलता लिखा हुआ है।

वैष्णव सम्प्रदाय में एक बाल ब्रह्मचारी, परम तपस्वी, नग्न दिगम्बर 'शुकदेव जी' नामक साधु हुए हैं। उन्होंने ईश्वर के २४ अवतारों में से केवल 'ऋषभ अवतार' को नमस्कार किया है।

जब लोगों ने श्री शुकदेव जी से इसका कारण पूछा कि आप अन्य अवतारों को नमस्कार क्यों नहीं करते? तब उन्होंने बड़ी गम्भीरता के साथ उत्तर दिया कि—

'अन्य अवतारों ने संसार का मार्ग चलाया है, ऋषभदेव जी ने मुक्ति का मार्ग चलाया है। इसलिये मुक्ति की इच्छा से, मैं ऋषभदेव जी को ही नमस्कार करता हूं।'

जो स्त्री-पुरुष संसार-सागर से पार होना चाहते हैं, कर्मबंधन काट कर सदा के लिये पूर्ण स्वतन्त्र होना चाहते हैं, उनको संसार-सागर से पारगामी, घाती कर्मबन्धन से मुक्त, मुक्ति-मार्ग के प्रदर्शक, परमशुद्ध, बुद्ध, निरञ्जन, निर्विकार, सच्चिदानन्द अर्हन्त परमात्मा का श्रद्धालु भक्त बनना चाहिये।

इस कारण अर्हन्त भगवान् की भक्ति क्रमशः भक्त को एक दिन भगवान् बनाने का सुगम साधन है। उसके द्वारा तीर्थंकर-बंध बँध जावे, इसमें तो आचर्श्य ही क्या है?

आचार्य-भक्ति

साधु-संघ के अधिनायक **आचार्य** कहलाते हैं। वे गुरुओं में मुख्य होते हैं। उनकी भक्ति करना **'आचार्य भक्ति'** है।

'आचार्य' एक पद है जो कि मुनि-संघ के सबसे अधिक तपस्वी, अनुभवी, देश, क्षेत्र, काल, भाव के ज्ञाता, पांच आचारों के पालक, प्रायश्चित्त शास्त्र के जानकार महान् मुनि को समस्त मुनियों की अनुमति से प्रदान किया जाता है। संघ के समस्त मुनि आचार्य की आज्ञानुसार चर्या करते हैं। नवीन मुनि-दीक्षा आचार्य ही देते हैं। मुनि जन आचार्य महाराज के समक्ष अपने दोषों की आलोचना करते हैं और उनको उनकी शक्ति-अनुसार प्रायश्चित्त भी आचार्य ही देते हैं। संघ में यदि कोई साधु बीमार हो जाय तो उसकी वैयावृत्य (सेवा) का प्रबन्ध भी आचार्य ही करते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का अनुमान करके आचार्य ही अपने मुनि-संघ को किसी स्थान पर ठहरने और कितने समय ठहरने तथा वहां से कब और किस ओर विहार करना है—यह आदेश देते हैं। यदि किसी स्थान पर संघ के ऊपर आता हुआ कोई भीषण उपद्रव देखते हैं तो उस समय मुनि-संघ में उस उपद्रव के समय समस्त मुनियों का कर्तव्य-निर्धारण भी आचार्य ही करते हैं तथा किसी मुनि को संघ से निकालना, किसी को अपने संघ में सम्मिलित करना भी आचार्य के ही अधिकार की बात है। यदि कोई मुनि समाधिमरण ग्रहण करना चाहे तो आचार्य महाराज ही उसकी शारीरिक योग्यता, उसकी परिषह-सहन करने की क्षमता तथा उसके स्वास्थ्य आदि बातों का विचार करके उसको समाधिमरण की अनुमति देते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस तरह आचार्य अपने मुनि-संघ के नायक होते हैं। जिस तरह बिना नायक के घर की व्यवस्था, समाज की दशा और देश की अवस्था बिगड़ जाती है, छिन्न-भिन्न हो जाती है, उसी तरह बिना आचार्य के मुनिसंघ में भी अनेक तरह की विषम समस्याएं आ खड़ी होती हैं। उन्हें सुलझाकर पथप्रदर्शन करने के लिये मुनिसंघ का नायक हाना परम आवश्यक है।

आचार्य महाराज को मुनिसंघ की व्यवस्था के लिये अपना बहुत-सा अमूल्य समय देना पड़ता है जिसको कि वे आत्मध्यान, स्वाध्याय आदि आत्मशुद्धि के साधनों में लगा सकते हैं। इसके अतिरिक्त नायक होने के कारण उनको अपने संघ के साधुओं की व्यवस्था के लिये थोड़ा-बहुत चिन्तातुर भी होना पड़ता है जिससे कि राग-द्वेष का अंश भी उनको लगा करता है। इस कारण आचार्य पद पर रहते हुए उनको मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। वे जब तक अपने स्थान के योग्य किसी अन्य अनुभवी तपस्वी मुनि को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित करके स्वयं साधु के रूप में आकर निर्द्वन्द्व तपस्या नहीं करते तब तक उनको मुक्ति प्राप्त नहीं होती। इस प्रकार आचार्य एक पद है जिसको किसी सुयोग्य व्यक्ति द्वारा सर्व संघ की अनुमति से परोपकार-बुद्धि से ग्रहण किया जाता है और किसी समय आत्म-कल्याण की उत्कट भावना से परित्याग भी किया जाता है।

आचार्य महाराज वैसे तो अन्य साधुओं के समान २८ गुणों का आचरण करते हैं, किन्तु उनके अतिरिक्त ३६ गुण उनमें और भी माने गये हैं :—१२ तप, १० धर्म, ५ आचार, ६ आवश्यक और ३ गुप्ति।

६ प्रकार के बहिरंग और ६ प्रकार के अन्तरंग तपों को निर्दोष रूप में आचार्य अन्य मुनियों की अपेक्षा विशेष रूप से आचरण करते हैं।

इसी तरह उत्तम क्षमा आदि १० धर्मों का आचरण भी अन्य साधुओं की अपेक्षा आचार्य का श्रेष्ठ होता है।

छह आवश्यक यद्यपि अन्य मुनि भी पालते हैं, परन्तु आचार्य आदर्श रूप में इनका आचरण करते हैं।

आत्म-शुद्धि की विशेष कारणभूत ३ गुप्तियों का परिपालन भी आचार्य द्वारा विशेषता के साथ होता है।

आचार के ५ भेद हैं—१. दर्शनाचार, २. ज्ञानाचार, ३. चारित्राचार, ४. तपाचार, ५. वीर्याचार। इन पाँचों आचारों का आचरण आचार्य पद की एक मुख्य विशेषता है। आचार्य नाम भी इन पाँच आचारों के आचरण के कारण है।

सम्यग्दर्शन का निर्दोष, दृढ़ता के साथ आचरण करना दर्शनाचार है। सम्यग्दर्शन आत्म-शुद्धि की मूल भूमिका है। यदि इसमें जरा भी शिथिलता आ जावे तो आचार्य अन्य साधुओं को मुक्ति-मार्ग पर किस प्रकार चला सकता है? अतः आचार्य का **'दर्शनाचार'** आदर्श होता है।

जैन सिद्धान्त का पूर्ण ज्ञान तथा साथ ही अन्य सिद्धान्तों का परिज्ञान, तर्क, व्याकरण, साहित्य आदि का असाधारण ज्ञान होना ज्ञानाचार है। आचार्य महान् ज्ञानी होते हैं। जैन सिद्धान्त की सिद्धि और अन्य मतों के खण्डन में अतिनिपुण होते हैं। अवसर आने पर शास्त्रार्थ करके जैनधर्म की प्रभावना करते हैं। शास्त्र-निर्माण करते हैं। यह **ज्ञानाचार** की विशेषता है।

बारह प्रकार के तपों में से वे कठोर तप करने के असाधारण अभ्यासी होते हैं। अतः **तपाचार** भी उनका श्रेष्ठ होता है।

कठोर परिषह, भयानक उपसर्ग सहन करने से, निर्जन भयानक स्थान में ध्यान लगाने से, दुर्द्धर विकट तपस्या करने से तथा और भी विकट परिस्थितियों से वे कतराते नहीं हैं। सिंह के समान उनकी मनोवृत्ति सदा निर्भय रहती है। इन विशेषताओं के कारण आचार्य में वीर्याचार माना जाता है।

उनका चारित्र निर्दोष होता है। पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति—इस तेरह प्रकार के चरित्र का जैसा अच्छा आचरण आचार्य महाराज का होता है, उतना अच्छा आचरण संघ के अन्य किसी साधु का नहीं होता। यही उनका **चारित्राचार** है।

गुरु के तीन भेद हैं—आचार्य, उपाध्याय और साधु। इनमें आत्म-शुद्धि के साधन की दृष्टि से देखा जाय तो साधु श्रेष्ठ होते हैं, क्योंकि ये समस्त संकल्प-विकल्प से मुक्त होकर आत्मसाधना करते हैं। परन्तु लोक-कल्याण की दृष्टि से विचार किया जावे तो आचार्य का पद सबसे उच्च है, क्योंकि मुनि-संघ की सुव्यवस्था करके वे मुनियों का ही नहीं, अपितु संसार का महान् उपकार करते हैं। अतएव अर्हन्त व सिद्ध भगवान् के बाद **आचार्य** परमेष्ठी का पद रक्खा गया है।

उन आचार्य महाराज की भक्ति करना **आचार्य-भक्ति** है। अर्हन्त भगवान् के साक्षात् अभाव में मोक्षमार्ग का नेता आचार्य ही तो होता है। उनकी आज्ञा का पालन करना, उनका हृदय से सम्मान करना, उनको ऊंचे आसन पर बैठाना, उनको हाथ जोड़ कर,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शिर झुकाकर नमस्कार करना, उनके पीछे-पीछे चलना, उनके आते ही खड़े हो जाना, उनके बैठ जाने पर उनकी अनुमति से बैठना, उनके चरण-स्पर्श करना, उनके पैर दबाना, थकावट दूर करने के लिये उनके हाथ, पैर, पीठ आदि दबाना **आचार्य भक्ति है।**

सामायिक

सामायिक का अर्थ मन को एकाग्र कर अपने आत्म-स्वरूप का ध्यान करना, अपने आत्मा के अन्दर ऐक्य होना तथा पर पदार्थ से भिन्न होकर अपने आत्म-स्वरूप में रत होना है।

सामायिक की व्याख्या—संसार में अपनी आत्मा से जितने भी पर पदार्थ हैं उसमें अपना उपयोग नहीं जाने देना, उस पर-पदार्थ को बिलकुल ही भूल जाना और अखण्ड अविनाशी अपनी आत्मा के अतिरिक्त "कोई भी अन्य वस्तु संसार में मेरी नहीं है" ऐसा मान करके संसार, शरीर और भोग इत्यादि से विरक्त होकर कुछ समय के लिए या एक घन्टे के लिए इस तरह मन में संकल्प करना कि आत्मा का ध्यान करते समय मैं अपने शरीर आदि को भी पर-पदार्थ समझ करके अपनी आत्मा में ही लीन रहूंगा तथा मेरे ऊपर चाहे जितना भी कष्ट क्यों न हो, पर मैं आत्मा की तरफ से अपना मन न हटा कर किसी पर-वस्तु में तिल मात्र भी उपयोग नहीं लगाऊंगा, इस तरह से मन, वचन व काय को रोक कर अपने आत्मा में रत होना सामायिक है।

सामायिक की निरुक्ति एवं भाव इस प्रकार है कि "सम" कहिए एकरूप होकर, "आय" कहिए आगमन अर्थात् पर द्रव्यों से निवृत्त होकर आत्मा में उपयोग की प्रवृत्ति होना। अथवा "सम" कहिये रागद्वेष रहित, "आय" कहिये उपयोग की प्रवृत्ति सो सामायिक है। भावार्थ :—**साम्यभाव का होना ही सामायिक है।** यह नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से छह प्रकार का है। यथा इष्ट, अनिष्ट नामों में रागद्वेष न करना। मनोहर, अमनोहर स्त्रीपुरुषादि की काष्ठ, पाषाणादि की स्थापना में रागद्वेष न करना। मनोज्ञ, अमनोज्ञ, नगर, ग्राम, वन आदि क्षेत्रों में रागद्वेष न करना। वसन्त, ग्रीष्म ऋतु तथा शुक्ल-कृष्ण पक्ष आदि कालों में रागद्वेष न करना। जीवों के शुभाशुभ भावों में रागद्वेष न करना। इस प्रकार साम्यभाव रूप सामायिक के साधन के लिये बाह्य में हिंसादि पंच पापों का त्याग करना और अन्तरंग में इष्ट-अनिष्ट वस्तुओं से राग-द्वेष-त्याग की भावना करना परमावश्यक है, क्योंकि इन विरोधी कारणों को दूर करने और अनुकूल कारणों को मिलाने से ही साम्यभाव होता है। इस साम्यभाव के होने पर ही आत्मा के स्वरूप में चित्त मग्न होता है, जो सामायिक धारण करने का अन्तिम साध्य है।

जब सामायिक योग्य द्रव्य (पात्र), योग्य क्षेत्र, योग्य काल, योग्य आसन, योग्य विनय, मनः शुद्धि, वचन शुद्धि, काय-शुद्धि पूर्वक की जाती है तभी परिणाम में शांति-सुख का अनुभव होता है। यदि इन बाह्य कारणों की योग्यता-अयोग्यता पर विचार न किया जाय तो सामायिक का यथार्थ फल प्राप्त नहीं हो सकता, अतएव इनका विशेष स्वरूप वर्णन किया जाता है।

(१) **योग्य द्रव्य (पात्र)**—सामायिक के पूर्ण अधिकारी निर्ग्रन्थ मुनिराज ही हैं। उन्हीं में सामायिक संयम होता है, क्योंकि उन्होंने अपने पंचेन्द्रियों को वश में करके अन्तरंग कषायों को निर्बल कर डाला है। बाह्य परिग्रहों को तज, षट्काय की हिंसा का सर्वथा त्याग कर दिया है, जिससे उनके सदाकाल समभाव रहता है। ऋषि श्रावक (गृहस्थ या गृहत्यागी) केवल नियत काल तक सामायिक की भावना भावने वाला सामायिक व्रती या नियत काल तक समता भाव धारण करने वाला सामायिक प्रतिमाधारी हो सकता है। जिस सामायिक के द्वारा मुनि शुद्धोपयोग को प्राप्त होकर संवरपूर्वक कर्मों की निर्जरा करते हैं और समस्त कर्मों को क्षय कर मोक्ष को प्राप्त होते हैं, उसी सामायिक के प्रारम्भिक अभ्यासी श्रावक, शुभोपयोग द्वारा सातिशय पुण्य बंध करके अभ्युदययुक्त स्वर्गसुख भोग, परम्पराय मोक्ष के पात्र हो सकते हैं।

(२) **योग्य क्षेत्र**—जहां कलकलाहट शब्द न हो, लोगों का संघट्ट (भीड़-भाड़) न हो, स्त्री, पुरुष, नपुंसक का आना-जाना, ठहरना न हो, गीत-गान आदि की निकटता न हो, डांस मच्छर, कीड़ी आदि बाधाकर जीव-जन्तु न हों, अधिक शीत-उष्ण-वर्षा, पवनादि चित्त को क्षोभ उपजाने वाले तथा ध्यान से डिगाने वाले कारण न हों, ऐसे उपद्रव-रहित वन, घर, धर्मशाला-मन्दिर व चित्त-शुद्धि के कारण अतिशय क्षेत्र, सिद्धक्षेत्र आदि एकान्त स्थान ही सामायिक करने योग्य हैं।

(३) **योग्य काल**—प्रभात, मध्याह्न, संध्या -- इन तीनों समयों में उत्कृष्ट ६ घड़ी, मध्यम ४ घड़ी और जघन्य २ घड़ी योग्यतानुसार सामायिक का काल है। इसके सिवाय अधिक काल तक या अतिरिक्त समय में सामायिक करने के लिये कोई निषेध नहीं है। सबेरे ३ घड़ी, २ घड़ी, १ घड़ी, रात से ३ घड़ी, २ घड़ी १ घड़ी दिन चढ़े तक, मध्याह्न में ३। २। १ घड़ी पहिले से ३। २। १ घड़ी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पीछे तक, संध्या को ३ । २ । १ घड़ी पहिले से ३ । २ । १ घड़ी रात्रि तक सामायिक करना योग्य है। इन समयों में **परिणामों की** विशुद्धता विशेष रहती है ।

कई ग्रन्थों में सामायिक काल सामान्य रीति से ६ घड़ी कहा गया है। स्वामी-कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ की संस्कृत टीका और दौलत क्रियाकोष में तीनों समयों को मिला कर भी ६ घड़ी कहा है। श्री धर्मसागर जी ने जघन्य २ घड़ी, मध्यम ४ घड़ी और उत्कृष्ट ६ घड़ी कहा है। इससे स्पष्ट होता है कि सामायिक व्रत में जघन्य दो घड़ी से लेकर उत्कृष्ट ६ घड़ी पर्यन्त योग्यतानुसार त्रिकाल सामायिक का काल है ।

(४) **योग्य आसन**—काष्ठ के पाटे पर, शिला पर, भूमि पर, बालू के रेत में पूर्व या उत्तर की ओर मुख करके **पर्यंकासन** (पद्मासन) बाँध कर, खड़े होकर (खड्गासन) अथवा अर्धपद्मासन या पालथी मार कर, इनमें से जिस आसन से शरीर की स्थिरता तथा परिणामों की उज्ज्वलता नियत काल तक रहनी सम्भव हो, उसी आसन से क्षेत्र का प्रमाण करके इन्द्रियों के व्यापार वा विषयों से विरक्त होते हुए; केश, वस्त्रादि को अच्छी तरह बाँधकर (जिसमें उनके हिलने से चित्त में क्षोभ न हो) हस्तांजली जोड़, स्थिर चित्त करके सामायिक, वन्दनादि पाठों का, पंचपरमेष्ठी का अथवा अपने स्वरूप का चिंतवन करे और उसमें लीन रहे।

(५) **योग्य विनय**—सामायिक के आरम्भ में पृथ्वी को कोमल वस्त्र या अमाड़ी की कोमल बुहारी से बुहार कर ईर्यापथ-शुद्धिपूर्वक खड़ा होवे, क्षेत्र काल का प्रमाण करे तथा ६ वार णमोकार मंत्र पढ़ कर हाथ जोड़ कर पृथ्वी पर मस्तक लगाकर नमस्कार करे। पश्चात् चारों दिशाओं में नव-नव बार णमोकार मंत्र कह कर तीन-तीन आवर्त दोनों हाथ की अंजुली जोड़ दाहिने हाथ की ओर से तीन बार फिराना और एक-एक शिरोनति (दोनों हाथ जोड़ नमस्कार) करे। पीछे खड़े हो या बैठ कर योग्य आसन पूर्वक णमोकार मंत्र का जाप करे, पंच परमेष्ठी के स्वरूप का चिंतवन करे, सामायिक पाठ पढ़े, अनित्यादि द्वादश-अनुप्रेक्षा का चिंतन करे, आत्म-स्वरूप का चिंतवन-पूर्वक ध्यान लगावे और अपना धन्य भाग समझे ।

सामायिक पाठ के ६ अंग हैं। (१) प्रतिक्रमण—अर्थात् जिनेन्द्र देव के सन्मुख अपने द्वारा किये हुए पापों की क्षमा-प्रार्थना करना, (२) प्रत्याख्यान—आगामी पाप त्याग की भावना करना, (३) सामायिक कर्म—सामायिक के काल तक सब में ममताभाव त्याग करके समता भाव धारण करना, (४) स्तुति—चौबीसों तीर्थंकरों का स्तवन करना, (५) वन्दना—किसी एक तीर्थंकर का स्तवन करना, (६) कायोत्सर्ग—काय से ममत्व छोड़कर आत्मस्वरूप में लवलीन होना ।

इस प्रकार समभावपूर्वक चिंतवन करते हुए जब काल पूरा हो जाय, तब प्रारम्भ की तरह आवर्त्त, शिरोनति तथा नमस्कार-पूर्वक सामायिक पूर्ण करें ।

(६) **मनःशुद्धि**—मन को शुभ तथा शुद्ध विचारों की तरफ झुकावे, अति-रौद्र ध्यान में दौड़ने से रोक कर धर्म ध्यान में लगावे। जहां तक सम्भव हो, पंच परमेष्ठी का जाप वा अन्य कोई भी पाठ, वचन के बदले मन से स्मरण करे, ऐसा करने से मन इधर-उधर चलायमान नहीं होता ।

(७) **वचन-शुद्धि**—हुंकारादि शब्द न करे, बहुत धीरे-धीरे या जल्दी-जल्दी पाठ न पढ़े, जिस प्रकार अच्छी तरह समझ में आवे, उसी प्रकार समानवृत्ति एवं मधुर स्वर से शुद्ध पाठ पढ़ कर धर्म-पाठ के सिवाय कोई और वचन न बोले ।

(८) **काय-शुद्धि**—सामायिक करने के पहले स्नान करने, अंग अंगोछने, हाथ-पाँव धोने आदि से जिस प्रकार योग्य हो, यत्नाचारपूर्वक शरीर पवित्र करके, वस्त्र पहिन कर सामायिक में बैठे और सामायिक के समय शिरःकम्प, हस्तकम्प अथवा शरीर के अन्य अंगों को न हिलावे-डुलावे, निश्चल अंग रक्खे। कदाचित् कर्मयोग से सामायिक के समय चेतन-अचेतन कृत उपसर्ग आ जाय, तो भी मन-वचन-काय को चलायमान न करते हुए उसे सहन करे ।

यहां कोई प्रश्न करे कि यदि सामायिक के समय अचानक लघुशंका या दीर्घशंका की तीव्र बाधा आ जाय, तो क्या करना चाहिये? उसका उत्तर यह है कि प्रथम तो व्रती पुरुषों का खान-पान नियमित होने से उनको इस प्रकार की अचानक बाधा होना सम्भव नहीं, और कदाचित् कर्मयोग से ऐसा ही कोई कारण आ जाय, तो उसका रोकना या सहन असम्भव होने से उस काम से निबट कर, प्रायश्चित्त ले, पुनः सामायिक स्थापन करे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यक्त्व

किसी भी कार्य के होने के लिये दो प्रकार के कारणों की आवश्यकता हुआ करती है—१. उपादान, २. निमित्त। दोनों कारणों के मिलने पर ही कार्य हुआ करता है। दोनों में से कोई भी एक हो, किन्तु दूसरा कारण न हो तो कार्य कभी नहीं होता। वस्तु में जो अपने कार्य रूप होने की शक्ति होती है उसे 'उपादान कारण' कहते हैं। उपादान कारण के सिवाय जो और दूसरे कारण उस कार्य के होने में सहायक हुआ करते हैं उनको 'निमित्त कारण' कहते हैं।

जैसे—आम का पेड़ उत्पन्न करने के लिये उपादान कारण आम की गुठली है, क्योंकि आम का पेड़ उत्पन्न करने की शक्ति उसी में है। किन्तु आम का पेड़ उगाने के लिये उस गुठली से ही पेड़ नहीं उग सकता। उसको दूसरे सहायक कारण मिलने चाहियें, जैसे पेड़ उगने योग्य जमीन। क्योंकि गुठली पत्थर पर पड़ी रहे या पानी में रहे अथवा किसी बर्तन में रक्खी रहे तो वह पेड़ पैदा न कर सकेगी। जहाँ उसके उगने योग्य जमीन होगी वहीं वह उग सकेगी। उसके साथ ही उसको उगने योग्य खाद्य, पानी, हवा तथा उगाने वाला माली, उसके उगने योग्य ऋतु आदि और पदार्थ भी होने आवश्यक हैं। जब सब कारण मिल जाते हैं तब आम का वृक्ष उत्पन्न होता है। वह न तो केवल गुठली से होता है और न केवल जमीन, पानी, खाद, हवा आदि से।

इसी प्रकार आत्मा की शुद्धि के लिये मूल कारण सम्यग्दर्शन (दर्शन शब्द का प्रसिद्ध अर्थ 'देखना' यहाँ नहीं लिया गया, यहाँ दर्शन का अर्थ 'श्रद्धान करना' लिया गया) है। सम्यक् शब्द का अर्थ 'ठीक' या 'भली प्रकार' है। यानी—ठीक रूप से आत्मा की श्रद्धा होना सम्यग्दर्शन है। इसके उत्पन्न होने के भी दो कारण हैं। आत्मा तो उसका उपादान कारण है क्योंकि आत्मा में ही सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने की शक्ति है। तत्त्वों का श्रद्धान होना, पांच लब्धियों का मिलना, योग्य अन्य साधनों का प्राप्त होना निमित्त कारण हैं।

गर्भाशय आदि होने पर भी, अपने पति का प्रसंग मिलने पर जिस तरह वन्ध्या स्त्री के सन्तान नहीं होती क्योंकि उस स्त्री में गर्भ धारण करने की योग्यता नहीं होती, इसी प्रकार तात्त्विक श्रद्धान, कुछ लब्धियों (करण लब्धि के सिवाय शेष ४ लब्धियों) तथा अन्य साधन मिलने पर भी अभव्य जीव में सम्यग्दर्शन प्रगट होने की स्वाभाविक योग्यता नहीं होती। इस कारण सम्यग्दर्शन का उपादान कारण '**भव्य जीव**' है। भव्य जीवों में भी कुछ दुरानुदूर भव्य ऐसे होते हैं जिनमें सम्यग्दर्शन होने की स्वाभाविक योग्यता होती है किन्तु उनको निमित्त कारण सम्यग्दर्शन के लिये नहीं मिल पाते। जैसे कि कोई अवन्ध्या (जो बांझ नहीं है, गर्भ धारण कर सकती है), कुलीन,(जिस कुल में स्त्री का दूसरा विवाह नहीं किया जाता), बाल विधवा स्त्री हो (पति का समागम होने से पहले ही पति मर गया हो—विधवा हो गई हो) तो सन्तान उत्पन्न करने की योग्यता होने पर भी जन्म भर पति का संयोग न मिलने के कारण सन्तान उत्पन्न न कर सकेगी। इसी तरह दुरानुदूर भव्य भी सम्यग्दर्शन होने के लिये ठीक उपादान कारण होते हुए भी अन्य बाहरी निमित्त कारण न मिलने की वजह से कभी सम्यग्दर्शन प्रगट न कर सकेगा।

तत्त्व—

वस्तु के स्वरूप को **तत्त्व** कहते हैं (तस्य भावस्तत्त्वं योऽर्थो यथावस्थितस्तथा तस्य भवनं), जैसे मनुष्यत्व (मनुष्यपना), पशुत्व (पशुता) आदि। तत्त्व वस्तु से पृथक् नहीं होता है जैसे—अग्नि से पृथक् उष्णता (गर्मी) नहीं रहती। अतः तत्त्व का अभिप्राय '**तत्त्वार्थ**' यानी—'अपने स्वरूप सहित वस्तु' ही समझना चाहिये। इसी कारण श्री उमास्वामि आचार्य ने मोक्षशास्त्र में सम्यग्दर्शन का लक्षण बतलाते हुए 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' यानी अपने स्वरूप सहित (मोक्षमार्ग-उपयोगी) पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, ऐसा कहा।

वैसे तो जगत् में घटत्व, पटत्व, पुस्तकत्व, मनुष्यत्व, पशुत्व आदि अनन्तानंत तत्त्व हैं। उनके ठीक या गलत श्रद्धान से आत्मा का कल्याण या अकल्याण नहीं होता। आत्मा को शुद्ध मुक्त करने के लिये श्रद्धेय तत्त्व सात हैं—१. जीव, २. अजीव, ३. आस्रव, ४. बन्ध, ५. संवर, ६. निर्जरा और ७. मोक्ष।

जानने-देखने वाला (ज्ञान-दर्शन उपयोगमय) चेतन पदार्थ जीव है, जो संसार में कर्मबन्ध के फलस्वरूप मिले हुए मनुष्य, पशु, देव, नारकी के शरीर में से किसी एक शरीर में कुछ समय तक रहकर अपने पिछले कर्मों का फल भोगता है तथा भविष्य के लिये अन्य कर्म संचित किया करता है। इसी संसारी जीव को विकारी भावों से छुड़ाकर शुद्ध और कर्म-बन्धन से छुड़ाकर मुक्त करने का प्रारम्भिक मूल उपाय '**सम्यग्दर्शन**' है। यानी—संसारी जीव को यह दृढ़ श्रद्धान होना चाहिये कि मैं इस समय विकृतबद्ध अवस्था में हूं, विकारों तथा कर्मों को हटा कर शुद्ध-मुक्त हो सकता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चैतन्य-रहित जड़ पदार्थ **अजीव हैं**। सभी दृश्यमान (दिखाई देने वाले) पदार्थ तो अजीव जड़ हैं ही, शरीर भी जड़ है। जब तक शरीर में जीव रहता है तब तक जीव के संबन्ध से शरीर को जीवित कह देते हैं। सभी भौतिक पदार्थ तथा चार अमूर्त पदार्थ—धर्म, अधर्म, आकाश, काल—अजीव पदार्थ हैं। इनमें से जीव के साथ सम्बद्ध होने वाला और उसको संसार जेल में रखने वाला 'कार्मण स्कन्ध' नामक पुद्गल (भौतिक) पदार्थ है,[1] कार्मण स्कन्ध जब जीव के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं तब वे '**कर्म**' कहलाते हैं।

कार्मण स्कन्धों को आकर्षित करने वाली (अपनी ओर खींचने वाली) एक 'योग' नामक शक्ति जीव में होती है जो कि मन, वचन, शरीर का सहयोग पाकर आत्मा के प्रदेशों (अंशों) में हलन-चलन (हरकत) किया करती है। इस योग शक्ति से जो कार्मण स्कन्धों का आकर्षण (खिंचना) होता है उसको 'आस्रव' कहते हैं।

आकर्षित कार्मण स्कन्धों का जीव के प्रदेशों के साथ कषाय के निमित्त से एकमेक (दूध पानी के समान) सम्बन्ध हो जाता है, उस दशा का नाम 'बन्ध' है। आस्रव और बन्ध क्रिया एक साथ होती हैं। संसारी जीव प्रति समय अनन्तानन्त परमाणुओं वाले कार्मण स्कन्धों का आस्रव और बन्ध किया करता है। इस आस्रव और बन्ध की मात्रा में कुछ कमी-बेशी तो हो जाती है, किन्तु दोनों बातें सदा होती रहती हैं।

सम्यक्त्व व्रत, संयमादि द्वारा जो कर्म-आस्रव-प्रणाली रुकती जाती है, उस कर्म के आने की रोक का नाम **संवर** है। संसार अवस्था में, यानी पूरी तौर से कर्म नष्ट होने से पहले, कर्म-आस्रव पूरी तौर से नहीं रुका करता। आस्रव का कुछ-कुछ अंश रुकता जाता है। जैसे किसी कुंड में ५ मोरियों से जल भरता था उनमें से जब एक मोरी बन्द कर दी गई तब चार मोरियों से पानी आता रहा। जब दो मोरियों का मुख बन्द कर दिया तब पानी का आना और भी कम हो गया। इसी तरह कर्म आने के कारण ज्यों-ज्यों कम होते जाते हैं त्यों-त्यों संवर बढ़ता जाता है, यानी कर्म-आस्रव कम होता जाता है। अंत में जब आस्रव के सभी कारण नष्ट हो जाते हैं तब पूर्ण संवर हो जाता है, उसी समय मोक्ष हो जाता है।

जिस प्रकार प्रतिसमय नये-नये कर्मों का बन्ध होता रहता है उसी तरह प्रतिसमय पहले के बन्धे कर्म उदय में आकर छूटते भी जाते हैं। इस तरह कर्मों की निर्जरा (छूटते जाना) प्रत्येक संसारी जीव के स्वयं हुआ करती है। इस सविपाक निर्जरा से जीव का कुछ कल्याण नहीं होता। किन्तु तपस्या करने से पूर्वबद्ध कर्म बिना फल देकर भी आत्मा से छूट जाते हैं—वह **अविपाक निर्जरा है**। मुक्ति में कारण यही अविपाक निर्जरा होती है।

संवर और निर्जरा होते-होते जब समस्त कर्म आत्मा से छूट जाते हैं, आत्मा पूर्ण शुद्ध हो जाता है, उसको मोक्ष कहते हैं। जिस तरह चावल के ऊपर का छिलका उतर जाने के बाद फिर वह चावल नहीं बन सकता, इसी तरह एक बार समस्त कर्म छूट जाने पर फिर कर्मों का बंध नहीं होता। आत्मा सदा के लिये कर्म-बन्धन से मुक्त होकर अजर, अमर, निरंजन, निर्विकार, पूर्ण शुद्ध बन जाता है।

संसारी जीव को पूर्ण शुद्ध करना है, अतः सबसे प्रथम **जीव** तत्त्व रक्खा गया है। जीव अजीवरूप पुद्गल (कर्म-नोकर्म) से संबद्ध होकर संसार में भ्रमण कर रहा है, अतः जीव तत्त्व के अनन्तर अजीव तत्त्व रक्खा गया। संसार के कारण आस्रव और बन्ध हैं, इसलिये तीसरा-चौथा तत्त्व आस्रव, बन्ध रक्खा गया। संसार में छूटने के भी दो कारण हैं, संवर और निर्जरा। इसलिये पांचवां-छठा तत्त्व संवर-निर्जरा रक्खा गया। संवर और निर्जरा का फल क्या होता है? **मोक्ष**। अतः मोक्ष को सबसे अन्त में रक्खा गया।

---

१. (क) परमाणुओं में स्वाभाविक रूप से उनके स्निग्ध व रूक्ष गुणों में हानि, वृद्धि होती रहती है। विशेष अनुपात वाले गुणों को प्राप्त होने पर वे परस्पर बंध जाते हैं, जिनके कारण सूक्ष्मतम से स्थूलतम तक अनेक प्रकार के स्कंध उत्पन्न हो जाते हैं। पृथ्वी, अप्, प्रकाश, छाया आदि सभी पुद्गल स्कंध हैं। —जैनेन्द्र सिद्धांत कोश, भाग ४-जिनेन्द्र वर्णी, पृ० ४४६-४७

(ख) "जीव के प्रदेशों के साथ बंधे अष्ट कर्मों के सूक्ष्म पुद्गल-स्कंध के संग्रह का नाम कार्मण शरीर है। बाहरी स्थूल शरीर की मृत्यु हो जाने पर भी इसकी मृत्यु नहीं होती।"—वही, भाग २, पृ० ७५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस तरह जीव के साथ-साथ कर्म (अजीव), कर्म आने, बँधने, कर्म-आस्रव रुकने, कर्म झरने तथा मुक्त होने को बतलाने रूप सात तत्त्व बतलाये हैं।[1] इन सातों तत्त्वों का विवरण जानकर बन्धन तथा मोक्ष की प्रक्रिया का श्रद्धान हो जाने पर आत्मा में सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ करता है।

सम्यग्दर्शन उत्पन्न (प्रगट) होने का उपादान कारण 'दर्शन मोहनीय' (आत्मा की अनुभूति न होने देने वाला) कर्म का उपशम (कुछ समय तक कर्म का उदय न होना) या क्षय (कर्म का बिल्कुल नष्ट हो जाना) अथवा क्षयोपशम (कुछ उदयाभावी क्षय, कुछ उपशम और कुछ उदय) होना है। दर्शन मोहनीय का उपशम होने से अन्तर्मुहूर्त तक उपशम सम्यक्त्व होता है। दर्शन मोहनीय का क्षय हो जाने से सदा के लिये क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है और दर्शन मोहनीय कर्म के क्षयोपशम होने पर क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है जो कि अन्तर्मुहूर्त और ८ वर्ष कम एक कोटि पूर्व ६६ सागर तक (अधिक से अधिक) रहता है, तदनन्तर छूट जाता है।

किन्तु इन सम्यक्त्वों को होने के लिये बहिरंग निमित्त कारण भी अवश्य होने चाहियें, सो नरकों में तीसरे नरक तक नारकी जीवों में सम्यग्दर्शन किसी को अपने मित्र देव द्वारा धर्म उपदेश सुनने से, किसी को पहले भव का स्मरण आ जाने से और किसी को नारकीय यन्त्रणाओं (पीड़ाओं) के कारण चित्त में निर्मलता आने पर हो जाता है। नरको में देव तीसरे नरक तक ही जाते हैं, उससे आगे नहीं जाते, अतः चौथे नरक से सातवें नरक तक नारकी जीवों को सम्यग्दर्शन होने के दो ही कारण होते हैं—१. पूर्व भव स्मरण, २. वेदना का अनुभव।

तिर्यञ्च (पशु) गति में किसी पशु-पक्षी को किसी मुनि आदि द्वारा धर्म-उपदेश सुनने से, किसी को पूर्व भव का स्मरण हो जाने से और किसी को जिनेन्द्र भगवान् की शान्त वीतराग मूर्ति का दर्शन करने से सम्यग्दर्शन हो जाता है। मनुष्यों को भी इन ही तीन कारणों से सम्यग्दर्शन होता है।

देव गति में किन्हीं देवों को तीर्थंकर, मुनि आदि का उपदेश सुनने से, किन्हीं को तीर्थंकरों के कल्याणक देखने से, किन्हीं को पहले भव का स्मरण हो जाने से और किन्हीं देवों को बड़े ऋद्धिधारक देवों को देखकर सम्यग्दर्शन हो जाता है। ये चारों कारण भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष तथा बारहवें स्वर्ग के देवों के लिये हैं। १३, १४, १५, १६वें स्वर्ग के देवों में ऋद्धिधारक देवों को देखने के सिवाय तीन कारणों से सम्यग्दर्शन होता है। नव ग्रैवेयकों के देवों में किसी को धर्म उपदेश सुनने से और किसी को पूर्व भव के स्मरण हो जाने से परिणामों में निर्मलता आने पर सम्यग्दर्शन हो जाता है। उनसे ऊपर अनुदिश तथा ५ अनुत्तर विमानों में रहने वाले सभी देव सम्यग्दृष्टि होते हैं।

इस तरह निमित्त और उपादान कारण मिलते ही सम्यग्दर्शन प्रगट होने की संक्षेप से प्रक्रिया है। हमको देव, शास्त्र, गुरु में अटल भक्ति रखनी चाहिये, चाहे जैसी विपत्ति क्यों न आ जावे किन्तु कुदेव, कुशास्त्र, कुधर्म, कुगुरु की श्रद्धा, मान्यता, भक्ति अपने मन में न आने दें, न उनकी स्तुति करें, न उन्हें नमस्कार करें। सातों तत्त्वों का स्वरूप अच्छी तरह समझ कर कर्म आस्रव और बन्ध के कारणों से अपने आपको बचाते रहने का यत्न करना चाहिये, संवर निर्जरा होने के कारणों को आचरण में लाना चाहिये तथा जिनवाणी का मन लगाकर स्वाध्याय करना चाहिये, चारित्र-धारक गुरुओं से उपदेश सुनना चाहिए और जिनेन्द्र भगवान् का बड़ी श्रद्धा-भक्ति से दर्शन, विनय, पूजन करना चाहिये, जिससे हमारे आत्मा में अच्छे भाव, अच्छे संस्कार उत्पन्न हों और आत्मा शुद्धि की ओर अग्रसर हो। आत्मा को शुद्ध करने के लिये मनुष्य भव में सभी साधन उपलब्ध हैं, हमें उनसे लाभ उठाना चाहिये।

पांच अणुव्रत

अहिंसाणुव्रत—मन-वचन और काय के कृत, कारित और अनुमोदना रूप नव प्रकार के संकल्पों से त्रस जीव का घात नहीं करना अहिंसाणुव्रत है। यहां पर यद्यपि त्रस दो इन्द्रिय आदि के चलते फिरते जीवों की जानबूझकर हिंसा नहीं करना अहिंसाणुव्रत है; तथापि अहिंसाणुव्रती अनावश्यक स्थावर एकेन्द्रिय जीवों का घात भी इरादतन नहीं करेगा, क्योंकि उसके हृदय में दया का महान् उदय उद्भूत है। वह नहीं चाहता कि मेरे द्वारा किसी जीव का संहार हो। वह तो यही भावना करता है कि हे भगवान् मेरी आत्मा में ऐसी शक्ति उत्पन्न हो, जिससे मैं जीव मात्र का रक्षक बनूं, मेरे द्वारा जानकर व अनजाने कुछ भी स्थावर एकेन्द्रिय जीवों का विनाश होता है, वह मेरी ही दुर्बलता या कमजोरी के कारण ही होता है, क्योंकि घर गृहस्थी के अन्दर रहकर स्थावर जीवों का हिंसा से

---

१. "जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तावम्", तत्त्वार्थ सूत्र, १/४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपना बचाव पूर्णतया असंभव है। यह अहिंसाणुव्रती कभी किसी के नाक-कान आदि अंगों का छेदन नहीं करेगा, उनको मजबूत बन्धनों से बांधकर किसी एक जगह रोककर नहीं रखेगा। उन्हें लकड़ी-पत्थर आदि से नहीं मारेगा, उनके ऊपर उनकी शक्ति से अधिक भार, बोझा, वजन नहीं लादेगा, उनको भूख और प्यास से पीड़ित नहीं करेगा, अर्थात् वह उन्हें समय पर खाना खिलायेगा और पानी भी पिलायेगा क्योंकि उसने अहिंसा (कष्ट पहुंचाने की चेष्टा और भावना का त्याग करना रूप अहिंसा) का प्रण यावज्जीवन के लिए ले रखा है।

सत्याणुव्रत—ऐसा वचन जिसके बोलने से अपना और दूसरों का घात होने की सम्भावना हो या जिसके सुनने पर लोगों में आपस में लड़ाई-झगड़ा, कलह और विसंवाद प्रारम्भ हो जाय ऐसे वचन स्वयं बोलने का और दूसरों से बुलवाने का त्याग करना सत्याणुव्रत है। ऐसा सत्याणुव्रती ऐसा सत्य नहीं बोलेगा और न बुलवायेगा, जिसके बोलने पर दूसरों का विनाश सम्भव हो। यह सत्याणुव्रती कभी किसी की निन्दा नहीं करेगा, शास्त्र-विरुद्ध झूठा उपदेश नहीं देगा, किसी की गुप्त बात या क्रिया को लोक में प्रकट नहीं करेगा, किसी की शारीरिक चेष्टा से उसके अन्तरंग के अभिप्राय को जानकर कषाय के वशीभूत हो दूसरों के सामने उसे प्रकट करने की चेष्टा सत्याणुव्रती कभी नहीं करेगा। जो बात या जो कार्य किसी ने किया नहीं है उसको अमुक ने ऐसी बात कही थी अथवा अमुक ने अमुक कार्य मेरे सामने किया था—ऐसा निराधार और अप्रमाणिक सर्वथा मिथ्यालेख सत्याणुव्रती कभी भी नहीं लिखेगा क्योंकि झूठी बातों और व्यवहारों का वह पहले ही त्याग कर चुका है। अगरचे कोई मनुष्य धरोहर के रूप में कोई रुपया पैसा सोना चांदी या आभूषण वगैरह रख जाय और कुछ समय के पश्चात् विस्मरण हो जाने से कम मांगने लग जाय तो उसे उसके कहे अनुसार कम देने की इच्छा नहीं करेगा, कम देना तो वस्तुतः दूर की बात है। इस प्रकार से सत्याणुव्रती का जीवन सत्य से ओत-प्रोत रहता है।

अचौर्याणुव्रत—अचौर्याणुव्रती कभी किसी की कहीं पर रक्खी हुई, पड़ी हुई, भूली हुई, वस्तु को न तो स्वयं ग्रहण करेगा और न अपने हाथ से उठाकर किसी दूसरे को देगा क्योंकि उसने पर वस्तु के—उसके स्वामी के बिना दिये और बिना कहे-लेने का परित्याग कर दिया है। जैसे उस प्रकार की चीज स्वयं नहीं लेता है वैसे किसी दूसरे को देता भी नहीं है, यह उसका मुख्य व्रत है। ऐसा व्रती धर्मात्मा किसी चोर को चोरी के लिये प्रेरणा नहीं करेगा, उसे चोरी करने के उपाय नहीं बतायेगा, उसके द्वारा चोरी कर के लाये हुए सुवर्ण आदि पदार्थों को नहीं खरीदेगा, राजा के आदेशों के विरुद्ध कार्य नहीं करेगा, महसूल आदि को बिना चुकाये इधर-उधर से माल को लाने की कोशिश भी नहीं करेगा, अधिक मूल्य की वस्तु में अल्प मूल्य की वस्तु जो उसके ही सामने है मिलाकर नहीं चलायेगा, अपने लेने का बाट-तराजू, गज-आदि तौलने और मापने के पदार्थों को अधिक और अल्प नहीं रखेगा, किन्तु राजा द्वारा तौलने और मापने के पदार्थों का प्रमाण जो निश्चित किया गया है उसी प्रमाण को रखेगा और उन्हीं से लेगा और देगा। ऐसा करते रहने से उसका लिया हुआ व्रत दृढ़ होगा।

ब्रह्मचर्याणुव्रत—इस व्रत का धारक और पालक व्रती जीव पाप के भय से न तो स्वयं पर-स्त्री का सेवन करेगा और न दूसरों से सेवन करायेगा किन्तु अपनी विवाहिता धर्मपत्नी में ही पत्नीत्व बुद्धि को धारण कर उसको ही सेवन करेगा और उसी में सन्तुष्ट रहकर अपनी राग-परिणति को क्रमशः कृश करता जायगा। ऐसा ब्रह्मचारी स्वदार-सन्तोषी होता है, वह अपने पुत्र-पुत्रियों को छोड़ कर दूसरों के पुत्र-पुत्रियों की शादी नहीं करेगा और न करायेगा, काम-क्रीड़ा के नियत अंगों से भिन्न अंगों के द्वारा काम-क्रीड़ा नहीं करेगा। अश्लील, अशिष्ट, अशोभनीय, उच्चता से गिराने वाले, रागवर्धक, नीचों द्वारा बोले जाने वाले, अश्रवणीय शब्दों को भी नहीं कहेगा। अपनी धर्मपत्नी में भी काम-सेवन की अधिक इच्छा नहीं रखेगा किन्तु सन्तानार्थ योग्य समय में ही काम-रत होगा, अन्य समय में नहीं। और जो स्त्री परपुरुषगामिनी, व्यभिचारिणी या दुराचारिणी है उससे अपना सम्बन्ध स्थापित नहीं करेगा अर्थात् उसके घर जाना-आना, उससे वार्तालाप करना आदि व्यवहार नहीं करेगा। ऐसा स्वस्त्री-सन्तोषी ब्रह्मचर्याणुव्रती होता है।

परिग्रहपरिमाणाणुव्रत—हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दास-दासी-कुप्य, भाण्ड, क्षेत्र, वस्तु—इन दस प्रकार की चीजों का प्रमाण करके बाकी की चीजों को यावज्जीवन छोड़ना अर्थात् प्रमाण की हुई वस्तुओं से बची हुई चीजों के साथ व्यामोह का त्याग करना ही परिग्रह-परिमाण अणुव्रत है। ऐसा अणुव्रती आवश्यक प्रयोजनीभूत सवारियों से अधिक सवारियाँ नहीं रखेगा। आवश्यकताओं जरूरतों से अधिक चीजों का संग्रह भी नहीं करेगा क्योंकि जरूरत से ज्यादा चीजों के जोड़ने का मूल लोभ कषाय है, और लोभ कषाय परिग्रहपरिमाणाणुव्रत का विरोधी है, अतएव परिमित वस्तुओं से अधिक को जोड़ने की भावना का त्याग करेगा। दूसरे विशेष पुण्यात्माओं के पुण्य के फलस्वरूप धन-धान्यादि सम्पत्ति की अधिकता को देख आश्चर्य या अचम्भा नहीं करेगा, अधिक लोभ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं करेगा और लोभ से प्रेरित हो शक्ति से अधिक भार नहीं लादेगा। इस तरह से पांच अणुव्रतों का पालक अणुव्रती श्रावक उन अणुव्रतों को पालन करके उनके सुफल-स्वरूप स्वर्ग को प्राप्त करता है। वह अवधिज्ञान और अणिमा, गरिमा, लघिमा आदि अनेक ऋद्धियों को प्राप्त करता है; सुन्दर और दिव्य भव्य वैक्रियक शरीर को एवं सुन्दर मनोहर हाव-भाव-प्रधान देवाङ्गनाओं को प्राप्त करता है। इस तरह से संयम के सुफल को जानकर प्रत्येक श्रावक को अपने कर्तव्य-स्वरूप षट् कर्मों में से कर्म-संयम को भी अपनाना चाहिए। वह संयम ही एक अद्वितीय जहाज है जिस पर आरूढ़ होकर यह संसारी प्राणी संसार-महासागर से पार हो सकता है। सदा के लिये अनन्तक से मुक्त हो आत्मिक अनन्त सुख-सागर में अवगाहन कर अनन्त काल के लिये एकमात्र सुख का ही अनुभोक्ता बन सकता है जो इन्द्रिय-विषय-सुख से बिल्कुल ही विपरीत एवं स्वाधीन है।

पाप और पुण्य

पुण्य और पाप इन दोनों ने आपस में मिलकर इस जीवात्मा को अपने अमूल्य अखंड अविनाशी निजरूपी आत्मनिधि से विमुख करके भूल-भुलैया में डाल दिया है। यह आत्मा अपने निज स्वरूप का मार्ग भूलकर इस भयंकर भवाटवी में परिभ्रमण करके अत्यन्त दु:खी होता हुआ इस महान् संसार-वन में पड़ा हुआ है और अभी तक इसे सन्मार्ग बतलाने वाले किसी भी सद्गुरु का समागम नहीं प्राप्त हुआ। कदाचित् इसे सद्गुरु का समागम भी प्राप्त हुआ तो पाप और पुण्य ये दोनों मिलकर इस जीवात्मा को अपनी ओर खींचकर उसी में रत करा देते हैं। इसलिये यह अपनी शक्ति का उपयोग करने पर भी हताश होकर इसी पाप और पुण्य के आधीन होकर उसी में रमण करने लगता है। जैसे कि कहा भी है कि :—

पापं नारकभूमिगोय्वुदसुवं पुण्यंदिवक्कोय्दा।
पापं पुण्यमिवोंदुग डिदोडेतिर्यंङ मर्त्यजन्मंगोल्॥
रूपं मालकुमिवेल्लमद्र्ुमंमिवे जन्मके साविगोडल्।
पापं पुण्यमिवात्मबाह्यकवला रत्नाकराधीश्वरा!

हे रत्नत्रय के अधिपति सिद्ध परमात्मन्! यह आत्माराम अनादिकाल से इस संसार में चक्कर काट रहा है। कभी पुण्य के आधीन होकर देवगति में जाता है और वहाँ के इन्द्रियों के सुखों का अनुभव करते हुए जब वहाँ की आयु समाप्त हो जाती है तब मन में अत्यन्त व्याकुल होकर जैसे मछली पानी में से निकालकर बाहर जमीन पर पटकते ही तड़फड़ाती रहती है उसी तरह यह जीव देवगति से निकलकर इस मनुष्य भव में तड़फता हुआ गिर जाता है। तत्पश्चात् यहाँ पर इन्द्रिय-जन्य सुख के आधीन होकर अपने असली स्वरूप को भूलकर पशु के समान विचरने लगता है, कभी पाप-पुण्य दोनों के संयोग से तिर्यंच गति में कभी मनुष्य कभी पशु-पक्षी तथा कभी नरक आदि दुर्गतियों में जाकर भटकता रहता है। इस तरह-भिन्न-भिन्न गतियों में भ्रमण कराते हुए इस आत्माराम को अनेक रूप बना देता है और पाप तथा पुण्य जन्म-मरण के कारणभूत इस आतमा को बारम्बार जन्म-मरण कराते रहते हैं। इसलिये आत्माराम को ये सभी पदार्थ बाह्य होने के कारण त्याग देने चाहिये, क्योंकि आत्मा इनके साथ होने के कारण व्यवहार नय से अच्छे और बुरे दोनों कर्मों को करने वाला कहलाता है और इसी के संयोग से जन्म और मरण करने वाला कहलाता है, किन्तु विचार किया जाय तो निश्चय दृष्टि से यह अविनाशी व अखण्ड संपत्तिमय निधि है।

प्रत्येक आत्मा अच्छे कर्म के साथ बुरे कर्म भी करता है। परन्तु बुरे कर्म का फल कोई नहीं चाहता है। चोरी तो करता है, पर यह कब चाहता है कि मैं पकड़ा जाऊं? दूसरे दर्शन कहते हैं कि कर्म स्वयं जड़-रूप होने से वे किसी भी ईश्वरीय चेतना की प्रेरणा के बिना फल-प्रदान करने में असमर्थ भी हैं। अतएव कर्मवादियों को मानना चाहिये कि ईश्वर ही प्राणियों को कर्म-फल देता है।

कर्मवाद का यह सिद्धान्त ठीक नहीं है कि कर्म से छूटकर सभी जीव मुक्त अर्थात् ईश्वर हो जाते हैं। यह मान्यता तो ईश्वर और जीव में कोई अन्तर ही नहीं रहने देती जो कि अत्यावश्यक है।

जैन-दर्शन ने उक्त आक्षेपों का सुन्दर तथा युक्ति-युक्त समाधान किया है। जैनधर्म का कर्मवाद कोई बालू (रेत) का दुर्ग थोड़े ही है, जो साधारण धक्के से ही गिर जाए? इसका निर्माण तो अनेकान्त की वज्र-भित्ति पर हुआ है। हाँ, तो उसकी समाधान पद्धति देखिये :—

आत्मा जैसा कर्म करता है, कर्म के द्वारा उसे वैसा ही फल भी मिल जाता है। यह ठीक है कि कर्म स्वयं जड़रूप है और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बुरे कर्म का फल भी कोई नहीं चाहता, परन्तु यह बात ध्यान देने की है कि चेतन के संसर्ग से कर्म में एक ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि जिससे वह अच्छे बुरे कर्मों का फल जीव पर प्रकट करता रहता है। जैन धर्म यह कब कहता है कि कर्मफल में ईश्वर (जीव) का कोई हाथ नहीं है।

कल्पना कीजिये कि एक मनुष्य धूप में खड़ा है और गर्म चीज खा रहा है और चाहता है कि मुझे प्यास न लगे। यह कैसे हो सकता है? एक सज्जन मिर्च खा रहे हैं और चाहते हैं कि मुँह न जले, क्या यह सम्भव है? एक आदमी शराब पीता है, और साथ ही चाहता है कि नशा न चढ़े। क्या यह व्यर्थ कल्पना नहीं है? केवल चाहने और न चाहने भर से कुछ नहीं होता। जो कर्म किया है, उसका फल भी भोगना आवश्यक है। इसी विचारधारा को लेकर जैन-दर्शन कहता है कि जीव स्वयं कर्म करता है और स्वयं ही उसका फल भोगता है।

ईश्वर चेतन है और जीव भी चेतन है। तब दोनों में भेद क्या रहा? भेद केवल इतना ही है कि जीव अपने कर्मों से बंधा है और ईश्वर उन बन्धनों से मुक्त हो चुका है। एक कवि ने इसी बात को कितनी सुन्दर भाषा में लिखा है:—

आत्मा परमात्मा में कर्म ही का भेद है।
काट दे यदि कर्म तो फिर भेद है न खेद है॥

जैन-दर्शन कहता है कि ईश्वर और जीव में विषमता का कारण औपाधिक कर्म है। उसके हट जाने पर विषमता टिक नहीं सकती। अतएव कर्मवाद के अनुसार यह मानने में कोई आपत्ति नहीं कि सभी मुक्त जीव ईश्वर बन जाते हैं। सोने में से मैल निकाल दिया जाय तो फिर सोना शुद्ध परमात्मा बन जाता है।

निष्कर्ष यह निकला कि प्रत्येक जीव कर्म करने में जैसे स्वतंत्र है, वैसे ही कर्म-फल भोगने में भी वह स्वतंत्र ही रहता है। ईश्वर का वहां कोई हस्तक्षेप नहीं होता।

कर्मवाद का व्यावहारिक रूप

मनुष्य जब किसी कार्य को आरम्भ करता है, तो उसमें कभी-कभी अनेक विघ्न और बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य का मन चंचल हो जाता है और वह घबड़ा उठता है। इतना ही नहीं, वह किंकर्तव्य विमूढ़-सा बन कर अपने आसपास के संगी-साथियों को अपना शत्रु समझने की भूल भी कर बैठता है। फलस्वरूप अंतरंग कारणों को भूलकर बाहरी कारणों से ही जूझता रहता है।

ऐसी दशा में मनुष्य को पथ-भ्रष्ट होने से बचाकर सत्पथ पर लाने के लिये सुयोग्य गुरु और कोई नहीं, कर्म-सिद्धान्त ही हो सकता है। कर्मवाद के अनुसार मनुष्य को यह विचार करना चाहिये कि जिस अंतरंग में विघ्न रूपी विष-वृक्ष अंकुरित और फलित हुआ है, उसका बीज भी उसी भूमि में होना चाहिये। बाहरी शक्ति तो जल और वायु की भांति मात्र निमित्त कारण हो सकती है। असली कारण तो मनुष्य के अपने अन्दर ही मिल सकता है, बाहर नहीं। अस्तु, जैसे कर्म किये हैं, वैसा ही तो उसका फल मिलेगा। नीम का वृक्ष लगा कर यदि कोई आम के फल चाहे तो कैसे मिलेंगे? मैं बाहर के लोगों को व्यर्थ ही दोष देता हूं। उनका क्या दोष है? वे तो मेरे कर्मों के अनुसार ही इस दशा में परिणत हुए हैं। यदि मेरे कर्म अच्छे होते, तो वे भी अच्छे न हो जाते? जल एक ही है, वह तमाखू के खेत में कड़वा बन जाता है तो ईख के खेत में मीठा भी हो जाता है। जल अच्छा बुरा नहीं है। अच्छा और बुरा है तम्बाकू और ईख। यही बात मेरे और मेरे संगी-साथियों के सम्बन्ध में भी है। मैं अच्छा हूं तो सब अच्छे हैं और मैं बुरा हूं तो सब बुरे हैं।

मनुष्य को किसी भी काम की सफलता के लिये मानसिक शान्ति की बड़ी भारी आवश्यकता है और वह इस प्रकार कर्म-सिद्धान्त से ही मिल सकती है। आँधी और तूफान में जैसे हिमाचल अटल और अडिग रहता है, वैसे ही कर्मवादी मनुष्य भी अपनी प्रतिकूल परिस्थितियों में भी शान्त तथा स्थिर रहकर अपने जीवन को सुखी और समृद्ध बना सकता है। अतएव कर्मवाद मनुष्य के व्यावहारिक जीवन में बड़ा उपयोगी प्रमाणित होता है।

कर्म सिद्धान्त की उपयोगिता और श्रेष्ठता के सम्बन्ध में डॉ० मैक्समूलर के विचार बहुत ही सुन्दर और विचारणीय हैं। उन्होंने लिखा है:—

यह तो सुनिश्चित है कि कर्मवाद का प्रभाव मनुष्य-जीवन पर बेहद पड़ा है। यदि किसी मनुष्य को यह मालूम पड़े कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्तमान अपराध के सिवाय भी मुझको जो कुछ भोगना पड़ता है, वह मेरे पूर्वकृत कर्म का ही फल है, तो वह पुराने कर्ज को चुकाने वाले मनुष्य की तरह शान्त-भाव से कष्ट को सहन कर लेगा। और यदि यह मनुष्य इतना भी जानता हो कि सहनशीलता से पुराना कर्ज चुकाया जा सकता है तथा उसी से भविष्य के लिये नीति की समृद्धि एकत्रित की जा सकती है, तो उसको भलाई के रास्ते पर चलने को प्रेरणा आप ही आप होगी। अच्छा या बुरा कोई भी कर्म नष्ट नहीं होता। यह नीति-शास्त्र का मत और पदार्थ-शास्त्र का बल-संरक्षण सम्बन्धी मत समान ही है। दोनों मतों का आशय यही है कि किसी का नाश नहीं होता। किसी भी नीति शिक्षा के अस्तित्व के सम्बन्ध में कितनी ही शंका क्यों न हो, पर यह निर्विवाद सिद्ध है कि कर्म-सिद्धान्त सबसे अधिक जगह माना गया है। उससे लाखों मनुष्यों के कष्ट कम हुए हैं और उसी मत से मनुष्य को वर्तमान संकट झेलने की शक्ति पैदा करने तथा भावी जीवन को सुधारने में भी उत्तेजना, प्रोत्साहन और आत्मिक बल मिलता है।

सल्लेखना

आत्मा अजर-अमर है। अतः वह न कभी उत्पन्न होता है, न मरता है। किन्तु यह आत्मा भौतिक शरीर को अपना निवास बनाकर कुछ दिन उसमें रहता है। उस शरीर का निर्माण माता के गर्भ में नौ मास तक सम्पन्न हो जाता है, तदनन्तर वह बाह्य जगत् में आता है, जिसे जनता '**जन्म**' कहती है। तदनन्तर उस शरीर के आकार-प्रकार में शनैः शनैः वृद्धि होती है और वह शैशवकाल, किशोरावस्था समाप्त करके यौवन दशा में पहुंच जाता है जहां कि उस भौतिक शरीर का पूर्ण विकास होकर वृद्धि समाप्त हो जाती है। तदनन्तर दिन के तीसरे पहर की तरह प्रौढ़ दशा में शरीर क्षीण होने लगता है और अपने चौथेपन वृद्ध अवस्था में पहुंच कर शरीर वृक्ष के पके हुए पत्ते की तरह जीर्ण-शीर्ण हो जाता है, तथा वह किसी रोग आदि साधारण आघात से इस तरह निर्जीव निश्चेष्ट होकर सदा के लिये गिर जाता है जैसा कि वायु के साधारण झकोरे से भी पका हुआ पत्ता वृक्ष से टूट कर गिर जाता है। जन-साधारण की भाषा में शरीर की इस निष्क्रिय दशा का नाम '**मृत्यु**' है। आध्यात्मिक भाषा में इसे **आत्मा द्वारा शरीर-परित्याग या नूतन शरीर में आत्म-प्रवेश** कहते हैं।

वैसे तो शरीर की मृत्यु उसी दिन से प्रारम्भ हो जाती है जिस दिन कि उसका जन्म होता है। टूटे हुए घड़े में से जिस तरह एक-एक बूंद पानी टपक-टपक कर कम होता जाता है उसी तरह शरीर भी क्षण-क्षण में क्षीण होता हुआ मृत्यु के निकट पहुंच जाता है। जीवन की अवधि कम होती जाती है, परन्तु जनता की स्थूल दृष्टि उसे नहीं देख पाती।

इस शारीरिक जन्म-मृत्यु को संसार भूल से आत्मा या जीव की जन्म-मृत्यु कहने लगा है।

भोगी मनुष्य अपने जीवन के अमूल्य क्षण शरीर की सेवा में—विषयभोगों में बिता देता है। आत्मा को स्वस्थ निराकुल करने की ओर उसका ध्यान नहीं जाता। इसी शारीरिक मोह के कारण वह सदा मृत्यु से भयभीत बना रहता है। परन्तु योगी जन अपने नर-जीवन के अमूल्य क्षणों को आत्मशुद्धि, आत्मविकास या आत्मसाधना में व्यतीत करता है। उसको शारीरिक पतन की चिन्ता नहीं होती। उसे तो अपने आत्मा के पतन की चिन्ता रहती है। इसी कारण वह आत्मा के पतन के कारणों—क्रोध, मद, माया, लोभ, काम, मोह आदि से सचेत रहकर आत्मा को उनसे बचाता रहता है, सदा अपना समय आत्मचिन्तन, परमात्मचिन्तन, ध्यान, स्वाध्याय, शास्त्र-अभ्यास आदि में लगाता है। इसी कारण योगी अपने जीवन में आत्मा की अमूल्य निधि—क्षमा, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, नम्रता, निर्लोभ, समता, ज्ञान आदि को बहुत बड़ी मात्रा में एकत्र कर लेता है। उसकी इस अमूल्य निधि को काम, क्रोध, लोभ आदि चोर न चुरा ले जावें—इसके लिए वह सतत सचेत रहता है। रात्रि के समय भी इसी कारण वह बहुत थोड़ी नींद लेता है।

जिस समय इस भौतिक शरीर की मृत्यु का क्षण निकट आता दीखता है, तब मोही जीव अपना शरीर छूटता देख व्याकुल होता है, भयभीत हो जाता है, दुःखी होता है और उसे बचाने के लिये सभी संभव प्रयत्न करता है। परन्तु योगी उस समय भयभीत और व्याकुल या दुःखी नहीं होता क्योंकि वह जीवन-मरण के यथार्थ रहस्य को समझता है। शरीर के जाने में उसे अपनी हानि नजर नहीं आती। उसके सामने तो उस समय आत्मनिधि की सुरक्षा का प्रश्न महत्त्वपूर्ण होता है। वह नहीं चाहता कि जीवन में तपस्या के कारण जो आत्मशुद्धि की है, उस पर क्रोध, शोक, मोह आदि का मैल फिर छा जाये।

अतः वह उस समय और भी जागरूक होकर शारीरिक चिन्ता और क्रोध, मद, मोह आदि कषायों से दूर रह कर आत्म-साधना में निरत हो जाता है। इस तरह आत्मशुद्धि की भावना से अपने शरीर को तथा क्रोध आदि कषायों को कृश करते जाना **सल्लेखना** है।

[सत् = आत्मशुद्धि के शुभ उद्देश्य से + लेखना = शरीर तथा कषाय का कृश करना = सल्लेखना]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरीर से मोह कम करने के लिये भोजन में क्रमशः कमी करना **शरीर-लेखना** है। जैसे भोज्य पदार्थ त्याग कर दूध, छाछ, जल आदि पेय पदार्थ ही आहार में लेना, फिर क्रमशः उनमें भी दूध, छाछ आदि को छोड़ कर केवल जल ही रखना और अन्तिम समय निकट आता देख जल भी त्याग देना, यह **शरीर लेखना** का क्रम है।

अनेक निकटवर्ती तथा दूरवर्ती व्यक्तियों (सम्बन्धियों, मित्रों, चाकरों तथा शत्रुओं) से समता भाव लाने के लिये उनसे मोह या द्वेष त्यागना, उनसे अपने ज्ञात-अज्ञात अपराधों की क्षमा मांगना तथा स्वयं उनको क्षमा कर देना, संसार के सब पदार्थों से मानसिक सम्बन्ध भी दूर कर देना, अपने शरीर के वस्त्रों, बिस्तरों, नीचे बिछी चटाई आदि चीजें भी क्रम से हटाते जाना **कषाय लेखना** है।

शरीर कृश करने का उद्देश्य यह है कि मृत्यु के क्षण में भूख-प्यास आदि से व्याकुलता या अशांति न होने पावे। भूख या प्यास को शान्ति से सहन करने का उत्कट अभ्यास हो जावे। कषाय कृश करने का अभिप्राय अपने संचित क्षमा, शान्ति, धैर्य, निर्वैर, मार्दव आदि आत्मगुण सम्पत्ति की क्रोध, मोह, मद, माया आदि दुर्भावों से सुरक्षा करना है।

यह आत्महत्या नहीं है

मनुष्य जब किसी क्रोध, लोभ, लज्जा, भय, शोक आदि के आवेश में आकर क्लेशित भावों से भूखा रहकर या फांसी लगाकर, नदी में कूद कर अथवा बिजली आदि द्वारा मृत्यु का आलिंगन करता है तब वह कायरतापूर्ण **आत्म-हत्या** होती है, क्योंकि मानसिक दुःख न सह सकने के कारण वह ऐसा करता है। किन्तु सल्लेखना में क्रोध, शोक, भय, क्षोभ आदि कोई दुर्भाव नहीं होता। आत्मसाधना में तन्मय होकर शान्ति और धैर्य से मृत्यु का स्वागत किया जाता है, अतः यह '**वीरमरण**' है।

प्रातःस्मरणीय श्री समन्तभद्र आचार्य ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में लिखा है—

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः॥

किसी प्राण-घातक महान् उपद्रव के आ जाने पर या ऐसे महान् दुष्काल में फंस जाने पर जिसके सुरक्षित होने की आशा न रहे, अतिशय वृद्ध अवस्था आ जाने पर, असाध्य रोग हो जाने पर, धर्मभावना, धर्मसाधना के साथ शरीर छोड़ना सल्लेखना है— ऐसा सर्वज्ञ भगवान् के उपदेशानुसार आचार्य कहते हैं।

जिस तरह मकान में आग लग जाने पर प्रथम तो उस मकान का स्वामी उस आग को बुझाने का यत्न करता है, किन्तु जब उसे यह प्रतीत होता है कि आग बुझ न सकेगी उस समय वह घर में से सबसे अधिक मूल्यवान् पदार्थों को सुरक्षित ले जाने का प्रयत्न करता है जिससे कि वह दीन दरिद्र न बनने पाये, अपना भावी जीवन सुख से बिता सके। इसी प्रकार धार्मिक व्यक्ति के ऊपर जब कोई प्राण-घातक महान् संकट आ जाता है तब वह पहले तो संकट को दूर करने की चेष्टा करता है, जब उसे यह विश्वास हो जाता है कि किसी भी तरह जीवन बच नहीं सकता, मृत्यु अवश्य होगी तब वह अपनी अन्तिम चेष्टा यह करता है कि अपने जीवन में मैंने जो व्रत, तप, त्याग, संयम द्वारा धर्मनिधि संचित की है, उसको बचा लूं जिससे कि वह शरीर के साथ नष्ट न हो जावे। क्योंकि उस धर्मनिधि के सुरक्षित रह जाने पर उसका अन्य भव सुखमय हो सकता है।

आयु-कर्म का बन्ध जीवन में आठ वार में से किसी भी वार योग्यता होने पर हो सकता है। उन आठ वारों का नाम जैन सिद्धान्त में '**अपकर्ष काल**' कहा है। कदाचित् उन आठों अपकर्ष-कालों में से कभी भी अन्य भव की आयु न बन्ध पाई हो तो अन्तिम समय (मृत्यु क्षण) में अन्य भव की आयु अवश्य बन्ध जाती है। इसी कारण आचार्यों का उपदेश है कि सदा अपने परिणाम अच्छे रक्खो, मन, वचन, काय की चेष्टा पापमय न होने दो, क्योंकि पता नहीं किस क्षण में अन्य भव की आयु बन्धने का अवसर आ जाए। आयु बन्धने के समय मन-वचन-काय की प्रवृत्ति यदि अशुभ होगी तो नरक या तिर्यञ्च की आयु बन्ध सकती है, अन्यथा मरने के समय जैसे परिणाम होंगे उनके अनुसार परभव का आयुबन्ध हो जायगा।

इसी के अनुसार लोक में यह कहावत प्रचलित है कि '**अन्त मति सो गति**' यानि—मरण-समय में जैसे परिणाम होंगे, आगामी भव भी उसी प्रकार का होगा। अतः अन्य भव सुधारने में '**सल्लेखना**' विशेष कारण है।

नीतिकार ने कहा है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तावद्भयस्य भेतव्यं यावद्भयमनागतम् ।
आगतं तु भयं वीक्ष्य नरः कुर्याद्यथोचितम् ॥

भय से तभी तक डरना चाहिये जब तक कि भय अपने पास न आने पावे किन्तु भय को अपने पास आया देखकर मनुष्य को यथा उचित प्रयत्न करना चाहिये ।

मृत्यु से भय पापी पुरुष को होता है कि मैंने अपने जीवन में महान् पाप कार्य किये हैं, पता नहीं मर जाने पर मैं किस नरक, निगोद, पशु-पक्षी की योनि में जा कर अपने पापों का दण्ड भोगूंगा । उसे अपने किये हुए पाप स्मरण आकर मृत्यु से भय लगता है । पापी भी मृत्यु के क्षणों में बुद्धिमानी से काम ले तो समाधिमरण द्वारा अपना कल्याण कर सकता है । परन्तु जिस सुजन व्यक्ति ने अपने जीवन में परोपकार, दान, पूजा, व्रत, तप, संयम आदि धर्म कार्य किये हैं, उसे मृत्यु से क्या भय हो सकता है । उसको तो हर्ष होता है कि यह पुराना शरीर छूट कर नया शरीर प्राप्त होगा ।

आचार्य कहते हैं—

कृमिजालशताकीर्णे जर्जरे देहपंजरे ।
भुज्यमाने न भेतव्यं यतस्त्वं ज्ञानविग्रहः ॥२॥ (मृत्यु महोत्सव)

अर्थात्—यह जीर्ण-शीर्ण पौद्गलिक शरीर सैकडों कीड़ों से भरा हुआ है, इसके नष्ट होते समय जरा भी भयभीत न होना चाहिये क्योंकि तू स्वयं ज्ञानमय या ज्ञान-शरीरी है, मृत्यु द्वारा तेरा नाश नहीं होता ।

साधारण-सी परदेश यात्रा करते समय मनुष्य बड़े उत्साह और हर्ष के साथ अनेक प्रकार शुभ शकुन बनाता है, भगवान् का शुभ नाम लेकर प्रस्थान करता है । मृत्यु-समय तो परलोक-यात्रा करने का अवसर है । उस समय तो और भी अधिक सावधानी और हर्ष के साथ शुभ शकुनों की तैयारी होनी चाहिये । उस समय रोना, शोक करना, पछताना आदि अपशकुन की बातें छोड़कर श्री जिनेन्द्र देव का पवित्र स्मरण और उनका नाम उच्चारण करना चाहिये, वैराग्य भावना द्वारा शारीरिक मोह छोड़ देना चाहिये ।

आचार्य ने कहा है—

यत्फलं प्राप्यते सद्भिर्व्रतायासविडम्बनात् ।
तत्फलं सुखसाध्यं स्यान्मृत्युकाले समाधिना ॥१४॥ (मृत्यु महोत्सव)

धर्मात्मा जो सुकार्य व्रत, तप, संयम आदि द्वारा करता है, उतना कार्य या उतना फल वह मृत्यु-समय समाधि द्वारा सहज में प्राप्त कर लेता है ।

वनस्पति में जीव

वृक्षों और वनस्पतियों में जीव होने की बात हम भारतवासी आज से नहीं, कल से नहीं, हजारों सालों से मानते आये हैं । हमारे तत्त्वदर्शी ज्ञानियों ने अपनी विकसित आत्म-शक्ति के द्वारा वनस्पतियों में जीव होने की बात का पता बहुत पहले से ही लगा लिया था । जैन धर्म में तो स्थान-स्थान पर वृक्षों में जीव होने की घोषणा की गई है । भगवान् महावीर की वाणी आचारांग सूत्र का भाव इन शब्दों में प्रकट किया जा सकता है :—

(१) जिस प्रकार मनुष्य जन्म लेता है, युवा होता है और बूढ़ा होता है, उसी प्रकार वृक्ष भी तीनों अवस्थाओं का उपभोग करते हैं ।

(२) जिस प्रकार मनुष्यों में चेतना-शक्ति होती है, उसी प्रकार वृक्ष भी चेतना-शक्ति रखता है, सुख-दुःख का अनुभव करता है । आघात आदि सहन करता है ।

(३) जिस प्रकार मनुष्य छीज जाता है, कुम्हलाता है और अन्त में क्षीण होकर मर जाता है, उसी प्रकार वृक्ष भी आयु की समाप्ति पर छीज जाता है, कुम्हलाता है और अन्त में मर जाता है ।

(४) जिस प्रकार भोजन करने से मनुष्य का शरीर बढ़ता है और न मिलने से सूख जाता है उसी प्रकार वृक्ष भी खाद और पानी की खुराक मिलने से बढ़ता है, विकास पाता है और उसके अभाव में सूख जाता है ।

आज का युग विज्ञान का युग है । आजकल प्रत्येक बात की परीक्षा प्रयोगों की कसौटी पर चढ़ाकर की जाती है । यदि विज्ञान की कसौटी पर बात खरी उतरती है, तो मानी जाती है अन्यथा नहीं । जैन धर्म की यह वृक्ष में जीव होने की बात पहले केवल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मज़ाक की चीज़ समझी जाती थी, परन्तु जब से इधर डॉ० जगदीशचन्द्र बसु महोदय ने अपने अद्‌भुत आविष्कारों द्वारा यह सिद्ध किया है कि वृक्ष में जीव है, तब से पुराने धर्मशास्त्रों की खिल्ली उड़ाने वाली जनता आश्चर्यचकित रह गई है।

बसु महोदय के आविष्कारों से पता चला है कि हमारी ही तरह वृक्षों में भी जान है। भोजन, पानी और हवा की जरूरत उन्हें भी पड़ती है। हमारी ही तरह वे भी जिन्दा रहते हैं और बढ़ते हैं। हाँ, इतना जरूर है कि उनका काम करने का तरीका हमसे कुछ भिन्न है।

चलती हुई सांस देखकर ही मनुष्य जिंदा कहा जाता है, अतएव पेड़-पौधे भी सांस लेते हैं। और मज़ा यह है कि उनका सांस लेने का तरीका हमसे बहुत मिलता-जुलता है। हम सिर्फ फेफड़े से ही सांस नहीं लेते, प्रत्युत् हमारे शरीर में लगा चमड़ा भी इस काम में हमारी मदद करता है। ठीक इसी तरह पौधे भी सारे शरीर से सांस लेते हैं। ऐसे यंत्र अब बन गए हैं जो ठीक नाप-तौल के बतला देंगे कि अमुक बीजों ने इतने समय में इतनी आक्सीजन हवा में से खींच ली है।

पौधों में स्मरण-शक्ति का भी अभाव नहीं है। यह बात सभी जानते हैं कि बहुत-से पौधे रात्रि के समीप आने पर अपने पत्तों को सिकोड़ लेते हैं और फल के डंठल को नीचे गिरा देते हैं। इसका कारण सूरज की अन्तिम किरणों का पौधों पर पड़ना बताया जाता है। लेकिन वैज्ञानिकों ने प्रयोग करके देखा है कि अंधेरे कमरे में बन्द कर देने से भी पौधे ठीक सूर्यास्त के समय अपने पत्तों को समेटने लगते हैं और सूरज के निकलने के समय खिल उठते हैं। सच बात तो यह है कि पौधों के कोषों को उसका स्मरण रहता है। रजनी-गन्धा रात होते ही महकने लगती है।

वैज्ञानिकों ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि पौधे पशुओं की तरह सर्दी-गरमी, दुःख-हर्ष आदि का ज्ञान भी रखते हैं। पौधों में प्यार तथा घृणा का भाव भी विद्यमान है। जो उनके साथ अच्छा व्यवहार करते हैं, उन्हें वे चाहते हैं और जो मनुष्य उनके साथ दुर्व्यवहार करते हैं, उन्हें वे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। कुछ पौधे फैशन-पसन्द होते हैं। ज़रा मैले हाथों से कमल को छू दीजिए, वह मुरझा जायेगा।

चोट लगने या छिल जाने पर जैसे हमें तकलीफ होती है, उसी तरह पौधों को भी होती है। प्राणियों के समान वृक्षों के शरीर में भी स्नायु-जाल फैला रहता है। जैसे मनुष्य के किसी अंग में पीड़ा होने से वह स्नायु-सूत्रों के द्वारा सारे शरीर में फैल जाती है, वैसे ही वृक्षों के शरीर में भी आघात की उत्तेजना फैल जाती है।

अपनी इन्द्रियों द्वारा पौधे सर्दी-गर्मी आदि का तो अनुभव करते ही हैं; साथ ही विष और उत्तेजक पदार्थों का भी उन पर प्रभाव पड़ता है। डॉ० बसु ने एक यन्त्र ऐसा भी बनाया है जो नाजुक पत्तियों की धड़कन का पता बताता है। शराब पीकर पौधे भी उत्तेजित हो जाते हैं, इस बात का पता इस यन्त्र की सहायता से सहज ही में लग सकता है। पौधे की जड़ में शराब डाल दी जाय और फिर यन्त्र से उस पौधे का सम्बन्ध कर दो तो तुम देखोगे कि उसकी पत्तियों में अधिक धड़कन होने लगी है।

क्या मनुष्य और क्या पशु-पक्षी, सभी दिन-भर काम करने के बाद थक जाते हैं और रात में उन्हें आराम करने की जरूरत पड़ती है। पेड़-पौधे भी इसी प्रकार थक कर रात में आराम करते हैं। सूरज के डूब जाने के बाद यदि तुम बाग़ में जाओ, तो देखोगे कि पत्तियों का रंग-ढंग दिन-जैसा नहीं है। ऐसा लगता है, जैसे वे चुपचाप पड़ी सो रही हों। क्लोवर नामक पौधे की पत्तियों में यह परिवर्तन बहुत साफ दिखाई देता है। उसकी पत्तियाँ रात के समय झुक कर तने से सट जाती हैं। हिन्दुस्तान में पाया जाने वाला टेलीग्राफ प्लांट रात में पत्ती पर पत्ती रखकर सोता है।

जिस प्रकार मनुष्य के स्वभाव भिन्त-भिन्न होते हैं, उसी प्रकार वृक्षों के स्वभाव भी बहुत विचित्र प्रकार के होते हैं। कुछ वृक्ष ऐसे होते हैं जो मांसाहार भी करते हैं। माँसाहारी पौधों की लगभग पाँच सौ जातियाँ पाई गई हैं। एक पौधा ब्लैंडर वर्ट होता है, यह जल में रहने वाला है। इसके तने पर छोटे-छोटे थैलों के मुंह पर एक दरवाजा लगा रहता है। ज्यों ही कीड़ा-मकोड़ा अन्दर पहुंचता है त्यों ही दरवाजा अपने आप बन्द हो जाता है। बेचारा कीड़ा अन्दर ही अन्दर छटपटा कर मर जाता है और उसका रक्त वह वृक्ष चूस लेता है।

अफ्रीका के घने जंगलों में ऐसे पेड़ पाये गये हैं, जो बड़े-बड़े जानवरों को भी दूर से जाल फैला कर पकड़ लेते हैं। उनके शिकंजे से निकल भागना फिर असम्भव हो जाता है। ये पेड़ मनुष्यों को भी पाने पर चट कर जाते हैं। मनुष्य के पास आते ही उसे अपनी टहनियों से पकड़ लेते हैं और चारों ओर से टहनियों के बीच दबाकर रक्त चूस लेते हैं। कितना भयंकर कर्म है इनका ! वृक्षों की सजीवता का यह प्रबल प्रमाण है। □

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org